खाँड़े की धार

खाँड़े की धार

(भारतीय इतिहास की अमर कहानियाँ)

लेखक

सुधींद्र वर्मा

गंगा पुस्तकमाला कार्यालय

लखनऊ

परिचय

भारतीय इतिहास भारत की संस्कृति के उतार-चढ़ाव का इतिहास है। हिंदू-शास्त्रों के अनुसार उसका प्रारंभ सृष्टि के आदि काल से ही माना जाता है। 'तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रे प्रकेतम सलिलं सर्व मा इदम्' यानी जब अंधतामिस्र से भी गहरा प्रलयकालीन अँधेरा प्रकृति की पराणविक स्थिति में मौजूद था, जब चारों ओर जल-ही-जल की-सी द्रव स्थिति थी, सृष्टि के उन परात्पर युगों से ही हमारे इतिहास का विकास और अवनति होती चली आई है। मानव-जीवन की पहली त्रियुगियाँ उसी के कल्याण-क्रोड में गुजरी थीं। इसलिये भारतीय इतिहास का मानव के इतिहास के साथ निकटतर संबंध है। वह किसी वंश-विशेष का या किसी जनपद-विशेष का इतिहास नहीं, बल्कि मानव के आदिम विकास का इतिहास है। इसीलिये उसका सांस्कृतिक महत्त्व बहुत बड़ा है। आदि मानव की उदात्त भावनाओं ने उसकी गोद में कैसे जन्म लिया, कैसे वे बढ़ीं, और कैसे विकसित हुईं तथा मानव-समाज की किन ग़लतियों से वे अवनत हुईं, यह सब भारतीय इतिहास की विविध काल-परंपरा का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है। भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक घटना-क्रम ने संस्कृति की जिस धारा को जन्म दिया, वह बड़ी उदात्त, प्रांजल और प्रखर थी। असि-धारा के समान

वह पैनी और चमकीली तथा तड़ित् जिह्वा के समान त्वरित थी। किंतु इतिहास के इस अजस्र धारा-प्रवाह में जब सामाजिक और राजनीतिक दोषों, मतिभ्रमों तथा धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों की गंदगी आ घुसी, तब उसने देश के इतिहास की धारा को ही गँदला नहीं किया, अपितु कई नए मोड़ों पर इकट्ठी होकर उसने उस निर्मल धारा का रुख़ ही फेर दिया, जिससे बहिया और बरबादी का तूफ़ान देश में आया, और इतिहास की शक्ल ही बदल गई। ये ग़लतियाँ बार-बार हुईं, और रूढ़ि-परंपराओं तथा वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं का आसरा पाकर वे देश को लगातार अवनति के गड्ढे में ढकेलती चली गईं। इतिहास की धारा के इन उदात्त आरोहों और अवद्य अवरोहों का अनवरत अध्ययन भावी भारत के निर्माण में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। आगे की पीढ़ियाँ पुरखों की ग़लतियों को समझकर उन्हें बरकाते हुए पतन के गड्ढे से बच निकल सकती हैं। इसी दृष्टि से उत्कर्ष और अपकर्ष की कुछ स्पष्ट घटनाएँ आँख के काजल और पैर के काँटे की शक्ल में यहाँ पेश की जा रही हैं। बचपन में अपनी सुसंस्कृता जननी के मुँह से सुनी और बाद में पूज्य गुरुवर डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा आलोचित और विश्लेषित ये कहानियाँ निजी अध्ययन और अनुभव की सान पर चढ़कर मेरे लिये बड़ी पैनी और नोकीली हो चुकी थीं। सन् १९४७ में, सब कुछ खोकर, बहन और बहनोई जब सीमांत-प्रदेश से एकाएक जनवरी, सन् १९४८ में झाँसी आ पाए, तब आसुरी तथा आर्य-संस्कृति के नए राम-रावण-युद्ध की, हूणों

के आक्रमणों की, पृथ्वीराज के वध की, शिवाजी के शौर्य की, हक़ीकत राय के बलिदान की और बंदा बैरागी के अमित धैर्य की उदात्त गाथाएँ फिर एकबार मानस-पटल पर छा गई। तभी से देश के विभिन्न पत्रों में, सूत्र-रूप से, इस ऐतिहासिक घटना-क्रम का यह सूक्ष्म अध्ययन प्रकाशित होता रहा। आज कुछ पुराना, कुछ नया, इस संग्रह में क्रम-बद्ध करके दिया जा रहा है।

आशा है, नई पौध के विचार-मूल को उर्वर करने में वह सहायक होगा, और वह विदेशी आक्रांताओं की पद्धति से इति-हास पढ़ना छोड़कर भारत के मूल सांस्कृतिक ढंग से उस पर विचार करना शुरू करेगी। इतिहास की धारा 'खाँड़े की धार' की तरह दुधारी और पैनी होती है, साथ ही बड़ी नोकीली भी—हृदय के अंतस्तल को एकदम छेद देनेवाली। अच्छे और बुरे दोनो ही नतीजे उसकी दोतरफ़ा धार से निकाले जा सकते हैं। हमारे सांस्कृतिक इतिहास की यह प्रखर खड्ग 'कहाँ चमकी' और 'कहाँ चूकी' यही इस कहानी-संग्रह का विषय है।

मेरा यह अध्ययन अनेक वर्षों के अनुशीलन का परिणाम है, और एक निश्चित उद्देश्य को लेकर ही किया गया था। मैं जानता हूँ, कुछ लोगों को, जो सदा हिंदू-संस्कृति को गालियाँ देते रहते हैं, यह पसंद न आएगा। लेकिन जो संस्कृति अनंत-काल से संसार का नेतृत्व करती आई है, और जो भारत के इतिहास का एकमात्र आधार है तथा जिसकी सर्वंसहा, सर्वं-कषा और सर्वंक्रीड़ा गोद ने—अनार्यों, ईरानियों, यूनानियों, कुषाणों, हूणों, शकों, सीथियनों, चीनियों, मंगोलों, तुर्कों, तातारों,

पठानों और अरब के बद्दुओं, पुर्तगालियों, फ़्रांसीसियों, डचों, अँगरेज़ों तथा अन्य अनेकों विदेशी जातियों को—जगह दी, और उन्हें ऐसा अपनाया कि आज उनका कोई अलग अस्तित्व ही बाक़ी नहीं रहा। वह भविष्य में भी विश्वबंधुत्व की अपनी भावना को जीता-जागता बनाए रखकर संसार का नेतृत्व करती जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसीलिये त्याग और तपस्या, निवृत्ति और निर्वेद, श्रम और साहस, ज्ञान और कर्म, विश्वभ्रातृत्व तथा देश-प्राणिता पर आधारित उस संस्कृति के इतिहास की इन घटनाओं को वैयक्तिक दृष्टिकोण से एक अध्ययन के रूप में मैंने प्रस्तुत किया है। बहुत से लोग मेरी विचार-धारा से असहमत हो सकते हैं, लेकिन स्वस्थ मस्तिष्क और पूर्वाग्रह-रहित हृदय से किया गया यह अध्ययन मेरे किशोर भाइयों और नवेली बेटियों को नए भारत के नए वातावरण के योग्य बनने में मदद जरूर करेगा, यह सोचकर ही बड़ी हिचकिचाहट के बाद उसे इस संग्रह के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, देश के विचारवान् पाठकों को यह रुचेगा।

इन कहानियों के लिये सबसे अधिक आग्रह मेरे दोनो आत्मजों तथा अनेक मित्रों की ओर से बार-बार होता रहा है। चिरंजीव सुशील वर्मा तथा सुबोध वर्मा बचपन में सुनी इन कहानियों के प्रकाशन के लिये बार-बार लंदन से पत्र लिख-लिखकर अनुरोध करते आ रहे हैं। इसलिये अपने नौजवान भाइयों और बहनों के हितार्थ इन्हें प्रकाशित करने के लिये मित्रवर संपादकाचार्य श्रीदुलारेलाल भार्गव से मैंने

निवेदन किया, और फल-स्वरूप यह संग्रह प्रस्तुत है। भाई दुलारेलालजी का मैं अत्यंत आभारी हूँ।

ये कहानियाँ—अगर वे कहानियाँ कही जा सकती हों, तो—चलित कहानी-कला के एकदम अनुकूल नहीं हैं। वे एक स्वतंत्र 'सोलिलोकी' 'आत्मचिंतन' या 'आत्मवाचन' के रूप में ही प्रस्तुत की गई हैं। हैं भी वे मेरी अपनी ऊबड़-खाबड़ विचार-सरणि का परिणाम। इसलिये उनके दोष मेरे चिंतन के ही दोष हैं। विज्ञ पाठक उन्हें क्षमा करें, यही प्रार्थना है।

लखनऊ २४-११-५९ सुधींद्र वर्मा

कथा-क्रम

खाँड़े की धार : कहाँ चूकी ?

★ खाँड़े की धार : कहाँ चमकी ?

ज्ञान और श्रम की असि-धारा

ऋषि-पुत्र काश्यप विद्वान् अवश्य थे, पर थे बड़े ही निरुद्यमी और निष्क्रिय। जहाँ पड़े हैं, पड़े हैं। हाथ-पैर चलाना भी उन्हें दूभर था। सोचते रहते, मैं ब्राह्मण हूँ—ईश्वर को जाननेवाला, स्वयं ब्रह्म। मैं क्यों नीच शूद्र के समान हाथ से काम करूँ? हाथ की मेहनत से उन्हें घृणा थी।

एक दिन घर में खाने को कुछ न था। सायंकाल किसी यजमान के घर से भोजन-प्राप्ति की इच्छा से काश्यप नगर की ओर जा रहे थे कि सामने से वैश्य-पुत्र धनंजय अपने रथ में आता दिखाई दिया। धनंजय काशी के नगरसेठ का लड़का था उद्दाम यौवन से मदमत्त। उसके पिता भद्रसेन के अनेक कारबार देश-भर में फैले हुए थे। अपार धन था, और धन का साथी अहं-कार भी। मानवता की उसके यहाँ पूछ न थी। रुपया, रत्न, रमणी और रंजन उस घर के लक्ष्य थे।

धनंजय वसंतोत्सव से लौट रहा था, और मदमाती मद-निका उसके बगल में थी। कशाघात से क्रुद्ध घोड़े सरपट दौड़ रहे थे। अभिमानी काश्यप रास्ते से नहीं हटे। "वैश्य ब्राह्मण का अपमान नहीं कर सकता। ब्राह्मण को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।" यह शास्त्र का वचन था। किंतु वे भूल गए थे कि शास्त्र धन को अहंकार और मद का जनक भी कहता है। दोनों ओर अकड़ थी। परिणाम हुआ कि धनंजय का रथ दृप्त काश्यप

को रौंदकर सरपट निकलता चला गया। ब्राह्मण की श्रेष्ठता पर पैर रखकर धन की मदांधता सिर उठाए निकल गई!

काश्यप रास्ते में पड़ा छटपटा रहा था, चीख रहा था—"आह, रुपया ही दुनिया में बड़ी चीज है। कैसे ठाठ से निकल गया मुझे रौंदकर वह मालदार धनंजय!! मेरे पास भी पैसा होता, तो क्या वह मेरा ऐसा अपमान कर सकता था? अब तो मैं यहीं पड़ा-पड़ा प्राण दे दूँगा। निर्धन का इस संसार में जीवन निरर्थक है। रुपया ही इस जगत् की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। ज्ञान-बुद्धि, विद्या और सुख का वह आधार है। काश्यप मुमूर्षु होकर रास्ते के किनारे लेटकर निर्धन जीवन की निरर्थकता पर देर तक रोता रहा, और उसने प्रायोपवेशन द्वारा आत्मघात करने का निश्चय किया।

उधर से निकलते हुए देवराज इंद्र का ध्यान चीखते-कराहते उस मानव की ओर गया, और वह काश्यप के निकट जा खड़े हुए। पूछने पर काश्यप ने हाल कहकर अपनी मनोव्यथा भी उन्हें सुनाई। राजमार्ग पर इस प्रकार निष्क्रिय आत्महत्या करते हुए ब्राह्मण को देख इंद्र को आश्चर्य हुआ। धन के लोभ और धन के मद का यह परिणाम देखकर वैभव और ऐश्वर्य के अधिपति देवराज इंद्र उबल उठे, और बोले—"काश्यप, बड़े दुःख की बात है कि तुम लोथ की तरह पड़े रहकर अपने प्राण गँवा रहे हो, केवल चाँदी के टुकड़े अगले जन्म में प्राप्त करने के लिये। ईश्वर ने तुम्हें सर्वश्रेष्ठ प्राणी—मनुष्य का जन्म दिया, और ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न करके ज्ञान-प्राप्ति के

सब साधन भी दिए। तप और संतोष के मर्मज्ञ होकर भी तुम धन को ही महत्त्व दे रहे हो, यह आश्चर्य है। तुम्हें अच्छी तरह मालूम है कि धन प्राप्त होते ही अहंकार आता है, और अहंकार मानवता को रौंदकर ही चलता है। तब जो धन रौंदकर निकल गया, उसी की प्राप्ति के लिये प्राण क्यों दे रहे हो? काहिलों की तरह पड़े क्यों हो? अपनी चोटों की चिकित्सा करके, हाथ-पैर हिलाकर अपनी रक्षा क्यों नहीं करते, जिससे आगे चलकर मानव-जीवन को सफल बना सको। बड़े भाग्यवान् ही तुम्हारी तरह मनुष्य-जन्म पाया करते हैं—वह मनुष्य-जन्म, जिसमें दस उँगलीवाले हाथ, सदसद्-विवेचिनी बुद्धि और ब्रह्म-हृदय स्वरूप आत्मा के अधीन रहकर काम करने के लिये हृदय सदा प्रस्तुत रहते हैं।"

काश्यप ने कराहते हुए कहा—"पैसे के बिना हाथ और बुद्धि बेकार है।"

इंद्र ने आवेश-पूर्ण स्वर में उत्तर दिया—"क्या बात करते हो, काश्यप, तुम्हारी आँखों पर लोभ का आवरण पड़ा हुआ है। केवल पुस्तक का ही ज्ञान तुमने प्राप्त किया है, क्रिया और अनुभव से तुमने कुछ नहीं सीखा। दस उँगलीवाले हाथ जिसे मिले, वास्तव में उसका जन्म सफल हो गया। हाथों में ही संसार की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। ज्ञान हाथों के बिना निकम्मा रहता है। बिना हाथ का ज्ञानी पैर में लगा काँटा तक नहीं निकाल सकता, काटते हुए मच्छर और मक्खी तक को नहीं उड़ा सकता। हाथों का ठीक उपयोग जाननेवाला कभी दुःखी नहीं रहता, किसी का

आश्रित नहीं रहता। हाथ का कारीगर संसार की अपरिमित शक्ति है। वर्षा, धूप और शीत से बचानेवाले घर, शरीर की रक्षा करनेवाले वस्त्र, पेट भरनेवाले अन्न, नींद देनेवाली शय्या आदि संसार के सभी सुख-साधन हाथ से मेहनत करनेवाले ही बनाते हैं।

"धन और धनपति इन्हीं हाथों पर निर्भर रहा करते हैं। हाथों की महती शक्ति को देखना हो, तो खेतों में जाकर देखो, जहाँ शक्तिशाली बैलों को इन हाथों ने वश में करके सिखा-पुनाकर धरती की छाती फाड़ने और खेती करने में लगाया, और दुनिया का पेट भरा। विशालकाय हाथी को वश में करके मानव के लिये काम में लगाया। श्रम के स्रोत इन हाथों की अपरिमेय शक्ति से तुम अनभिज्ञ हो, इसीलिये तो तुम अजिह्व, कृपण, अल्प प्राण और लुंजे बन गए हो। तुम्हारी जीभ ने उस धनंजय के अत्याचार के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा—तुमने कंगाल की तरह उसे सहन कर लिया, और कायर की तरह रो रहे हो। अगर तुम हाथों की शक्ति का उपयोग जानते होते, तो अपने इन्हीं हाथों से उस अत्याचारी को उसी समय दंड देते, जिससे धन के मद में मस्त वह धनंजय भविष्य में कभी मानवता का अपमान करने का साहस न कर सकता।"

"धन की आवश्यकता तो कारीगर को भी रहेगी ही। और अगर धन थोड़ा हुआ, तो खर्च हो जायगा, इसलिये बिना धन-पति बने संसार में कोई सुखी नहीं रह सकता।" काश्यप बोले।

"मैं धन के ठीक उपयोग और उसकी आवश्यकता को तो

नहीं मिटाना चाहता, किंतु धन-संग्रह के लिये नहीं है। उसे तो मानवता का सेवक बनकर रहना होगा, उसका मालिक बनकर नहीं। यह तभी हो सकता है, जब हाथ की मेहनत से उसे पैदा करके संतोष और तृप्ति के साथ उसका उपभोग मनुष्य करे, और शेष को मानवता की सेवा में लगा दे। संग्रह से ही लोभ और लोभ से आसक्ति, कामवासना, अहंकार और दर्प उत्पन्न होते हैं, जिससे मनुष्य पहले धनी, फिर राजा, फिर देवता, फिर इंद्र और तब स्वयं भगवान् ही बनने के स्वप्न देखने लगता है। एक बार लगा तृष्णा का रोग, फिर उसे कभी नहीं छोड़ता, और उसकी आत्मा पतित हो जाती है। तृष्णा की आग में वह जलता ही रहता है। इसलिये ज्ञानी पुरुष हाथों से परिश्रम करके अपनी जीविका चलाते हुए सुख-संतोष-पूर्वक रहते हैं, और ईश्वर के गुण गाते हुए उसकी कृपा से सदा आनंदित रहते हैं।"

काश्यप के दुःखी मन को इस प्रकार सांत्वना देकर, इंद्र उन्हें अपने रथ में घर पहुँचा और चिकित्सा की व्यवस्था करके चले गए।

★

जन-क्रांतिकारी प्रह्लाद

वर्तमान झाँसी-जिले के 'एरच्छ' नगर में, जिसका प्राचीन नाम हिरण्यपुरी है, दैत्य लोगों का प्रथम गणतंत्र स्थापित हुआ। असुरों अथवा दैत्यों ने सर्व-सम्मति से अपने में से सबसे बलवान् एक दैत्य को 'गणपति' नियुक्त किया। देवाधिदेव शंकर का वह उपासक था। उपासना करके उसने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का वर प्राप्त किया; किंतु भगवान् शंकर जानते थे कि जिसे मृत्यु-विजय का वर प्राप्त हो जाय, वह यदि योगी और ब्रह्मज्ञानी न हो, तो संसार के लिये कराल-काल सिद्ध हो सकता है। अतएव उन्होंने कहा—"तुझे न मनुष्य मार सकेगा, न पशु; न देवता और न दैत्य। तेरी मृत्यु न पृथ्वी पर होगी, न आकाश में; न दिन में, न रात में; न घर में, न बाहर।" इस प्रकार का वर पाकर मूर्ख दैत्य अपने आपको अजेय और अमर समझ अभिमान से भर गया, और गणतंत्र के सभी सिद्धांतों की उपेक्षा करके लगा मनमानी करने। केवल सोना—हिरण्य, और कुछ नहीं उसे सूझता था, इसीलिये तो वह 'हिरण्य-कश्यप' कहलाया। उसकी पत्नी थी 'कयाधू'। हिरण्य-कश्यप के अत्याचारों से जब प्रजा बेहद तंग आ गई, और सब तरह लुट-पिटकर परेशान हो गई, तब उसे एकमात्र भगवान् के नाम का सहारा ही शक्ति और प्रह्लाद का स्रोत बना। प्रह्लाद का जन्म हुआ। यह भगवन्नाम-बली प्रह्लाद, जनता के

आत्मविश्वास और शक्ति का आधार प्रह्लाद धीरे-धीरे बढ़ा। यहाँ तक कि दैत्यराज के कानों तक भगवन्नाम-शक्ति-संपन्न प्रह्लाद की चर्चा पहुँची। तुरंत राम-नाम पर रोक लगा दी गई। प्रह्लाद इसे कब सह सकता था। सब कुछ जाय, पर ईश्वर का नाम कैसे जा सकता है? वही तो इस संसार की लंबी यात्रा का एकमात्र संबल है। सत्य और पवित्र ईश्वर के नाम पर शांतिमय आग्रह प्रारंभ करने का निश्चय करके जन-प्रिय प्रह्लाद ने अपना कार्य प्रारंभ किया। राजा ने प्रह्लाद को कोड़े लगवाए, और पहाड़ से गिरवाया, किंतु वह नहीं मरा, न उसके सत्य विश्वास में जरा भी कमी आई। अंत में राजा की सहोदर बहन, जो राजा के साथ ही उत्पन्न हुई थी, उसे पकड़कर आग में जलाने गई। बेचारी स्वयं जल गई, पर प्रह्लाद न जलाया जा सका। भयानक 'दैत्य' राजा के अंदर जाग उठा—मा कयाधू से कहा गया कि वह अपने पुत्र को विष दे। मा-बेटे के पवित्र संबंध को भी तुड़वाया गया, और दिल पर पत्थर रखकर मा ने विष का प्याला प्रह्लाद को दिया, किंतु साथ ही आशीर्वाद भी उस सती ने दिया कि विष तुझे अमृत हो। सचमुच वह अमृत ही हुआ—प्रह्लाद न मरा।

निरुपाय होकर दैत्य ने भयानक मृत्यु-दंड का मार्ग ढूँढ़ निकाला। उत्तप्त लोहे का दंड उसने मैदान में खड़ा करवाया, और चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ जलवा दीं। सारा नगर उस भयंकर अग्नि की धू-धू करती ज्वाला की लपटों से आलिंगित होकर जल उठा। कोने-कोने में वह आग लग गई।

आह ! अत्याचारी शासक अपनी चरम सीमा पर आकर मानवता और असुरता का उल्लंघन करके राक्षसी सीमा तक जा पहुँचा---आर्य-संस्कृति का प्रतीक प्रह्लाद आज नष्ट होगा। अपार भीड़ हिरण्यपुर की ओर चल दी। भयंकर दृश्य था। सभी ओर से उत्तप्त लाल लौह-दंड मैदान में खड़ा था।

किंतु प्रह्लाद के मुख पर विषाद नहीं, डर नहीं, शोक नहीं, घृणा नहीं, शांत, स्थिर, स्थिरप्रज्ञ, ज्ञानी, भक्त प्रह्लाद अपलक दृष्टि से भगवान् का स्मरण और दर्शन करता हुआ अडिग पगों से उस अंगारे की तरह जलते हुए स्तंभ की ओर---लौह-दंड की ओर---बढ़ रहा है। जनता स्तब्ध, विक्षुब्ध, क्रुद्ध दलबद्ध सशस्त्र हिंस्र होकर राजा के इस अत्याचार को देख रही थी, तथा 'जय प्रह्लाद, जय जन-नेता, जय भगवद्भक्त, जय अजेय भगवान्, जय भगवान् की अजेय भक्ति' के नारे लगा रही थी। और, भगवान् की प्रतिज्ञा---'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्; धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।'---का स्मरण कर रही थी। प्रह्लाद की अनिमेष दृष्टि उत्तप्त लौह-दंड की विभीषिका पर थी, वह उससे एक कदम दूर तक आ पहुँचा।

राजा ने कहा---"क्या तेरा भगवान् अब भी तुझे बचा सकता है ?"

प्रह्लाद ने कहा---"हाँ।"

राजा ने कहा---"क्या तू मृत्यु को आलिंगन करने के लिये तैयार है ?"

प्रह्लाद ने कहा---"हाँ, अपने भगवान्, अपने विश्वास और

भक्ति के लिये। मृत्यु केवल पुनर्जन्म का नाम है। अगले जन्म में भी फिर यही काम करूँगा, जिससे बार-बार जन्म न लेना पड़े।"

राजा घबरा गया। जनता और भी अधिक चमत्कृत! आज्ञा हुई—"अच्छा, तो मृत्यु को आलिंगन कर।"

प्रह्लाद ने देखा, स्तंभ पर चींटियाँ चल रही हैं। लौह-दंड की विभीषिका एकदम हतप्रभ हो चुकी है, उसने बाहें फैलाईं, और साथी की तरह मौत से लिपट गया। एकाएक जनता के धैर्य का बाँध टूट गया। वह अपने नेता को मरा समझकर विवेक-बुद्धि खो बैठी। इतने में मृत्यु-दंड भीषण कड़कड़ाहट के साथ फटा। सिंह-शीर्ष और नराकृति एक दिव्य अवतार हुआ, जो न सुर था, न असुर; न नर था, न दानव। प्रह्लाद को गोद में उठा उस आकृति ने जनता के आगे खड़ा कर दिया, और स्वयं उन सबके आगे खड़ा हो राजा से पूछा—"कहिए राजन्! क्यों यह भीषण दमन और अत्याचार आपने मचा रक्खा है? केवल इसलिये न कि प्रजा आपको अधिक हिरण्य नहीं दे सकती, और निरुपाय, निर्धन होकर केवल ईश्वर के भरोसे जी रही है, और प्रह्लाद का दृढ़ ईश्वर-विश्वास उसे जीवित रक्खे है? आपने इन गरीबों की स्वतंत्रता, आत्मविश्वास, स्वस्थ जीवन, धन-संपत्ति तथा विचार और प्रवचन आदि के समस्त जन्मसिद्ध अधिकार तो छीन लिए और जीने का अधिकार भी आप इनसे लेना चाहते हैं?" राजा से कोई उत्तर न बन पड़ा। सोने के आभूषणों और भरी-पूरी तोंद के भार से लदा राजा भाग भी न सका।

खड़ा-खड़ा उस विचित्र आकृति को देखकर काँपने लगा। पैने नखों के सिवा श्रीनरसिंह के पास कोई शस्त्र न था। वह आकृति आगे बढ़ी, और बढ़कर उसने राजा को उठा लिया। राजा की सेना ने चूँ भी न की। भगवान् नरसिंह के नेतृत्व में जनता राज-द्वार तक आई, और राजद्वार की ऊँची देहरी पर खड़े होकर भगवान् राजा की मोटी देह को ऊपर उठा जनता से कहा—"ऐसे अत्याचारी का केवल एकमात्र दंड है मृत्यु!" प्रजा ने अनुमोदन किया। अपनी जंघाओं पर लिटाकर उस अद्भुत मूर्ति ने अपने नखों से ही उस राजा की मोटी तोंद को चीर डाला। रक्त की एक अजस्र मोटी धार वह निकली, और राजा निष्प्राण हो गया। उस समय संध्या हो रही थी। न दिन था, न रात थी। घर की देहरी पर न घर ही था, न बाहर। मारनेवाले न नर थे, न सुर, न दैत्य या दानव, न मनुष्य और न पशु। किसी धारवाले शस्त्र से भी उसे मारा न गया था। क्रांति अपना कार्य पूरा कर, प्रह्लाद को अमर बनाकर अंतर्धान हो गई। पैसे के लोभी शासन को आत्मविश्वासिनी जनता हार्दिक भावनाओं के प्रह्लाद के नेतृत्व में क्रांति करके, सदा इसी प्रकार विद्रोह करके, उसे बदल सकती है। शासन का पेट, उसका कोष, उसकी अर्थ-व्यवस्था अपने अधिकार में कर उसे प्रजातांत्रिक बना सकती है। यह संकेत ही प्रह्लाद की इस लाक्षणिक कहानी से पुराणकार ने हमें दिया है। प्रजा को सदा अत्याचारी शासक से विद्रोह करने का अधिकार है, यह बात ही इस कथा से सिद्ध होती है।

✱

वैभव और विराग—विदेह जनक

(उपनिषत्काल की एक कथा)

सुनसान रात्रि के गहन अंधकार में, जब संसार सोता था, एकाएक विदेहराज जनक के वैभवशाली मैथिल प्रासाद में आग की भयंकर लपटें उठ खड़ी हुईं। आँधी के झकोरों में सेवकों की चीख-पुकार सेना के कान तक कठिनाई से पहुँची, और झंझा से प्राप्त अग्नि ने बात-की-बात में न केवल राजप्रासाद को ही, अपितु मिथिला के ऐश्वर्यशाली नागर-भवनों को भी भस्म कर डाला। राजधानी में हाहाकार मच गया।

महाराज जनक को निर्लिप्त भाव तथा स्मयमान नेत्रों से उस विनाश की ओर देखते पाकर मांडव्य मुनि ने प्रणाम किया—"मिथिला जल रही है महाराज! और आप निश्चिंत होकर मुस्किरा रहे हैं। क्या इस अतुल संपत्ति का विनाश आपको तनिक भी प्रभावित करके चिंतित नहीं बनाता ?"

विदेहराज बोले—

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन;
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।

"भैया, मैं निस्संग, निरंजन आत्मा हूँ। मेरा इस संसार में कुछ भी नहीं है। इसीलिये मैं संसार से अलग ही रहा करता हूँ। मिथिला जल रही है, उसे मैं बचा नहीं सकता—

विवश और ईश्वरेच्छा के अधीन, मैं तब शोक क्यों करूँ ! इस सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य का नाश मेरे लिये दुःख का कारण नहीं बन सकता।

"धन-वैभव जितना ही बढ़ता जाता है, उतना ही उसके साथ जंजाल और दुःख भी बढ़ा करता है। बुद्धिमान् पुरुष इस बात को खूब समझते हैं। मूर्ख लोगों को धन-ऐश्वर्य तथा विलास की बढ़ती अच्छी लगा करती है, परंतु तत्वज्ञ तो कामनाओं और ऐश्वर्य-भोग के बड़े-से-बड़े सुख को भी तृष्णाक्षय के महान् सुख से बड़ा नहीं समझता। धन जितना ही आता जाता है, तृष्णा भी गाय के सींगों की तरह उतनी ही बढ़ती जाती है, और यहाँ तक बढ़ती है कि फिर औरों के पेट फाड़ने लायक पैनी हो जाती है। धन इकट्ठा हो जाने पर धन की ममता उत्पन्न होती है, और धनी पुरुष निर्धन को नीचा समझने लगता है। दूसरों से जलता है। अत्याचार करता है। तृष्णा और अहं-कार उसका सत्यानास कर देते हैं। इसलिये मनुष्य धन का संग्रह कभी न करे, न उस धन को विलास तथा अपनी ऐंद्रिक इच्छाओं की पूर्ति में लगाए। केवल जीवन-यापन तथा धर्म-कार्य के लिये ही धन का व्यय करे, और बचे हुए धन को सब संसार के हित के लिये उपयोग में लाए। विशुद्धात्मा लोग तो धर्म-कार्य करके, बचे हुए धन को तुरंत दान देकर त्याग देते हैं। कभी अपने पास जमा नहीं किया करते। निर्मल चंद्रिका की तरह शुद्ध-चरित्र ही मानव का सर्वोत्तम धन है। उसी के कारण संसार मनुष्य का आदर करता है। धन से किसी को यश और

आदर नहीं मिला करता, इसलिये इस जंजाल से छुटकारा पाकर मुझे सुख ही हुआ है, दुःख नहीं।"

मिथिला की चिता-भस्म माथे से लगाकर मांडव्य ने महाराज जनक को प्रणाम किया। जनकवंशियों की विदेहता तथा आर्य-संस्कृति के निवृत्तवाद को ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी खरा उतरते देखकर मांडव्य को आश्चर्य नहीं हुआ। वास्तव में कठोर और कुटिल समय में भी निस्संग और निर्लेप रहकर अपने कर्तव्य का पालन करना ही भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्षण है, यह मांडव्य ने क्रियात्मक रूप से उस दिन देखा।

गिलहरी की राष्ट्र-सेवा

सीताजी को हरकर रावण की भोग-प्रधान, दानवी संस्कृति ने निवृत्ति-प्रधान, पुण्य मार्गमयी आर्य-संस्कृति को जब चुनौती दी, तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र का मन्यु (क्रोध) जाग उठा। दक्षिण में आर्यावर्त के विरुद्ध उठाई गई इस ललकार ने उन्हें विद्रोही का दमन करने के लिये प्रेरित किया। सुग्रीव के दूत चारों ओर सैन्य-संग्रह के लिये चले गए। चारों दिशाओं से आर्य-जाति के मित्रों की सेनाएँ इकट्ठी होने लगीं, और कुछ दिन बाद वह वानर, ऋक्ष और निषाद आदि वन्य जातियों के वीरों की सेना लंका पर चढ़ चली।

कुमारी अंतरीप तक वह निर्विघ्न चली गई, पर आगे अथाह सागर ठाठें मार रहा था। रत्नाकर की उत्ताल ऊर्मियाँ लंका तक फैली छुटपुट चट्टानों के बीच टक्करें मारकर फेनिल और भयंकर हो रही थीं। आर्य-सेना का मार्ग अवरुद्ध था। पर आर्य-जाति के वीरों ने कभी विघ्न-बाधाओं से डरना नहीं सीखा था। बाधाओं पर विजय पाकर, असंभव को संभव कर दिखाना ही आर्य युवक का कर्तव्य गिना जाता है। श्रीराम ने भी सागर पर सेतु बाँधने का असंभव कार्य हाथ में लिया। राष्ट्र की इस महती निर्माण-योजना को सफल बनाने के लिये प्रत्येक समर्थ व्यक्ति से सहायता और श्रम-दान की प्रार्थना की

गई। आर्य-जाति के प्रेमी हज़ारों व्यक्ति पुल बनाने के काम में जुट गए। नल और नील-जैसे बड़े-बड़े इंजीनियरों और हनुमान्-जैसे श्रम-नायकों की अध्यक्षता में काम चल निकला। स्वयं महावीर हनुमान् बड़े-बड़े शिला-खंडों को ढो-ढोकर लाने लगे। सभी राष्ट्र-सेवा के कार्य में जी-जान से जुट गए थे।

पर छोटी गिलहरी 'रुरु' बेचैन थी। महाबली हनुमान् की यह प्यारी गिलहरी इस व्यस्त कार्य-क्रम में महावीर के स्नेह से वंचित हो गई थी। अब उसे कपिराज के विशाल कंधों पर फुदकने का मौक़ा न मिलता था। उनकी स्नेह-भरी हथेली से वन-फलों की गुठलियों की मीठी मींगी भी खाने को न मिलती थी। उसकी श्वेत-श्यामल पीठ के कोमल रोएँ भी कई दिन से सहलाए न गए थे। महावीर के कंधों पर रक्खी विशाल चट्टानों को देख-देखकर डर के मारे वह उनके पास भी न जा पाती। केवल आगे-पीछे दौड़-दौड़कर उनके साथ भागती-भागती वह थक जाती। अपनी कमज़ोरी, बेबसी और अकर्मण्यता पर उसे झुँझलाहट हो आती।

पर एक दिन रामजी की सेना ने देखा, जहाँ समतल चट्टान पर सेतु-निर्माण की सामग्री जमा की जा रही थी, वहीं एक कोने में रेत के कणों की एक छोटी-सी तह जमा होनी शुरू हो गई। अपना बोझा लेकर जब कोई भी कपि या ऋक्ष वहाँ लौटता, तो उस तह को और मोटा पाता। छोटी 'रुरु' उस तह को प्रतिक्षण बढ़ाती चली जा रही थी, वह समुद्र के पानी में डुबकी लगाती, फिर रेत में लोटती और नल-नील

के पासवाली समतल चट्टान पर जाकर रेत में लथ-पथ अपने फरहरे शरीर को जोर से झकझोरती, जिससे सूखी रेत वहाँ झड़कर इकट्ठी होती जाती। प्रतिक्षण वह ढेर बढ़ता जाता; सभी सैनिक गिलहरी के इस आश्चर्य-जनक कार्य की, विश्राम के समय, चर्चा किया करते।

धीरे-धीरे छोटी 'रुरु' के रेत के ढेर के साथ-साथ लंका का राम-सेतु भी बढ़कर पूरा हो गया। उस दिन उद्‌घाटन के लिये भगवान् स्वयं पधारे। चट्टान पर पड़े उस रेत की कहानी उन्हें सुनाई गई! छोटी 'रुरु' के इस राष्ट्रीय श्रम-दान का आदर भगवान् के सिवा कौन कर सकता था। तुरंत हनुमान्‌जी से गिलहरी मँगवाई गई, और उस छोटे-से रेणु-भार को पूरे पुल पर कण-कण के क्रम से बिछवाया गया। स्वयं भगवान् ने उस रेत को मस्तक से लगाकर स्नेह-पूर्वक गिलहरी की पीठ पर हाथ फेरा। 'रुरु' उस लोकोत्तर स्पर्श से पुलकित हो उठी, और उसी दिन से गिलहरी की पीठ पर भगवान् की स्नेह-थपकी के चिह्न-स्वरूप उनकी उँगलियों की छाया धारियाँ बन-कर स्थायी हो गई। भारत की गिलहरी उसी दिन से राष्ट्र-सेवार्थ श्रम-दान के उस पद को आज तक धारण किए चली आती है।

राष्ट्र निर्माण में रेत के एक कण ढोने का श्रम भी कितना महत्त्व-पूर्ण है, यह श्रीराम ने दिखला दिया।

☆

अध्यक्ष का चुनाव

द्वारकापुरी में एक बार कंस के पिता महाराज उग्रसेन ने जब अंधकवृष्णि-संघ की विधान-सभा की अध्यक्षता के लिये, सर्वजन-प्रिय होने के नाते, श्रीकृष्ण का नाम प्रस्तुत किया, तो वासुदेव तुरंत उठ खड़े हुए। बोले—"महाराज, वृष्णि-वंश के यादव-कुल में उत्पन्न होने के कारण भले ही आप मेरे नाम का प्रस्ताव रक्खें, किंतु सर्वजन-प्रिय कार्य-कर्ता अभी मैं नहीं हो पाया हूँ। उस पद के लिये—जन-प्रिय सार्वजनिक नेता-पद के लिये—उपयुक्त गुण मुझमें नहीं हैं। वह पद तो केवल देवर्षि नारद को ही दी जा सकती है।"

उग्रसेन और आहुक ने टोका—"ऐसे वे कौन-से गुण हैं, जिन्होंने नारद को सर्वप्रिय जन-सेवक बना दिया है?"

कृष्ण ने उत्तर दिया—"माननीय कुकुर-नरेश, नारद को अपने निर्मल चरित्र का रत्ती-भर भी अभिमान नहीं है, यद्यपि वह भ्रष्टाचार के सबसे बड़े शत्रु हैं। वह जैसा कहते हैं, वैसा करते भी हैं। इसी चारित्रिक निर्मलता के कारण जनता उनका आदर करती है।

"वह राग-द्वेष और चापल्य अथवा भय के वश होकर कभी कोई काम नहीं करते। इन अवगुणों का उनमें नाम भी नहीं है। किसी काम को देर तक पड़ा रखना उनके स्वभाव

के विपरीत है। अवसर आने पर वह युद्ध से भी पीछे नहीं हटते। यही कारण है कि लोग उनसे इतना स्नेह करते और उन्हें अपना नेता समझते हैं। नारद से मिलना बड़ा आसान है। ड्योढ़ी-दरबान और भेंट-मुलाकात के घंटों का उनके यहाँ कोई प्रतिबंध नहीं। जो वादा वह कर देते हैं, उसे किसी कामना अथवा लोभ—वश, कभी पलटते नहीं।

"परमात्मा के परम भक्त नारद की इंद्रियाँ पूरी तरह से उनके वश में हैं। सरल-स्वभाव, सत्यवादी, बुद्धि, तेज, यश, ज्ञान और विनय के धनी नारद बड़े शीलवान् हैं। कभी किसी का निरादर नहीं करते, और सभी अभ्यागतों का, सुरुचि भोजन और पेय तथा मधुर वाणी से, सदा स्वागत करते थे।

"दूसरों की विपत्ति देखकर वह कभी प्रसन्न न होते। कोई गाली भी दे जाय, वह उसे सहकर क्षमा कर देते हैं। ऊँच-नीच का भेद उनके यहाँ नहीं। सभी वर्ग उनके लिये समान रूप से सेवनीय है। न उनका कोई प्रिय है, न अप्रिय। उद्भट विद्वान् होते हुए भी वह विनोद-प्रिय और बहुश्रुत हैं।

"अत्याचार के सामने वह कभी झुकना नहीं जानते, और बिना क्रोध किए ही उसका सत्यानाश कर डालते हैं।

"वह किसी भी कामना को सामने रखकर कोई भी सार्वजनिक अथवा निजी काम नहीं करते। कर्तव्य समझकर ही उसे पूरा करते हैं। उन्हें अपनी प्रशंसा से बेहद चिढ़ है, और आत्म-श्लाघा तो वह कभी करते ही नहीं। संसर्ग-विद्या में (इंटर्व्यू लेने में) वह अत्यंत कुशल हैं। निर्लज्जता तो उन्हें छू भी

नहीं गई है। सदा परोपकार-निरत नारद किसी के भी रहस्यों को प्रकट करना पाप समझते हैं। बड़ी-बड़ी कठिनाइयों में भी वह न तो जल्दबाजी करते हैं और न शीघ्र निश्चय ही। स्थिरता और धैर्य उनके स्थायी गुण हैं। निःसंग, निरंजन नारद इसीलिये सर्वोत्तम और सर्व-जन-प्रिय महापुरुष कहे जाते हैं।"

श्रीकृष्ण द्वारा प्रदर्शित सार्वजनिक नेता की इस लक्षणावली को सुनकर सभा ने सर्वसम्मति से कृष्ण को ही अध्यक्ष निर्वाचित किया, क्योंकि उनमें ये सब गुण प्रस्तुत थे। उनकी निष्पक्षता तथा सत्य-प्रियता ने यादवगण को अत्यंत प्रभावित किया था। स्वयं नारद ने ही श्रीकृष्ण के चुनाव का प्रबल अनुमोदन किया, जिसका अंकुर, सात्यिक आदि जन-नेताओं ने समर्थन किया। निस्संग कर्तव्य-परायणता, नम्रता और सत्य-प्रियता, जो आर्य-जाति के प्रधान लक्षण हैं, श्रीकृष्ण के इस व्यवहार से और भी चमक उठे।

विश्व-शांति का प्रथम प्रयत्न

आज विश्व-शांति के प्रयत्नों के दिनों में हमें पाँच हजार वर्ष पूर्व के इसी प्रकार के उस महान् शांति-प्रयासी और शांति-दूत का स्मरण हो आता है, जिसने युद्ध के भयंकर परिणामों और मानवता के निर्मम संहार का सजीव वर्णन कर संसार के सबसे पहले विश्व-युद्ध को रोकने का प्रयत्न किया। महाभारत का युद्ध तत्कालीन विश्व-युद्ध ही था। संपूर्ण जंबू-द्वीप उसमें जूझ मरा था, और उस काल के विलासी ऐश्वर्य ने मानवता की समाधि कई शताब्दियों तक के लिये बना दी थी।

शांति और प्रेम के देवता श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में सदा शांति और प्रेम से ही सब समस्याएँ सुलझाईं, किंतु जब-जब अत्याचारी ने अपनी ग़लती स्वीकार करके शांति-पूर्वक न्याय के आगे सिर नहीं झुकाया, तब-तब अत्याचार, अन्याय के दमन के लिये युद्ध को प्रोत्साहित करके उसे नष्ट करने से भी वह कभी पीछे नहीं रहे। नपुंसक के समान अत्याचार और अन्याय को सहन करना न तो अहिंसा ही है, और न सद्धर्म। उस समय तो उसका प्रतिकार करने में अपनी समस्त शक्ति और सर्वस्व होम देना सर्वोत्तम अहिंसा और कर्तव्य था। गीता में इसी सिद्धांत का प्रतिपादन कृष्ण ने किया।

वह स्वयं दूत बनकर शांति का प्रयत्न करने कौरवों की

सभा में गए। कर्तव्य के आगे अपमान की भी उन्होंने परवा नहीं की। कौरवों की सभा में दिया गया उनका भाषण संसार के शांति-प्रयत्न-संबंधी भाषणों में प्रथम स्थान रखता है। उन्होंने कहा था—

"मैं खून की नदी नहीं बहाना चाहता। उस बहते हुए रक्त की धारा का अनुमान करके ही मेरा हृदय काँप उठता है। क्या कोई भी सचेत पुरुष संसार के फलते-फूलते शक्तिमान यौवन को मौत के मुँह में डालना चाहेगा? मैं नहीं चाहता कि नौजवानों का यौवन मुर्झा जाय। मैं नहीं चाहता कि बड़े-बूढ़ों की इज्ज़त धूल में मिल जाय। मैं लाखों निरीह बच्चों को अनाथ होते नहीं देखना चाहता। मैं हज़ारों भरे-पूरे सुखी घरों में बरबादी का धुआँ उठता नहीं देखना चाहता। अनेक नारियों के करुण क्रंदन से देश के श्मशानों को गूँजता हुआ भी मैं नहीं सुनना चाहता। युद्ध मनुष्य का वह अंतिम और अत्यंत क्रूर अस्त्र है, जिसे प्रयोग करके वह न केवल अन्याय एवं अत्याचार का प्रतिकार करता है, अपितु उसके साथ बरबादी, भूख, बीमारी, शोक और मानवता के नाश को भी निमंत्रित करता है। मैं पांडवों की ओर से मानवता के नाम पर अनुरोध करता हूँ कि आप लोग उनके अधिकार को स्वीकार करके केवल पाँच गाँव ही उन्हें दे दें, जिससे संसार की शांति नष्ट न हो, मानव सुख से रह सके। मैं पांडवों को राजी करने का जिम्मा लेता हूँ।"

शांति की भीख के लिये इस प्रकार झोली फैलाकर भी

विश्व-वंद्य कृष्ण जब सफल न हुए, तो कौरवों का समूल नाश ही उन्होंने करा दिया, और उससे डरनेवाले अर्जुन को 'मास्म क्लैब्य गमः पार्थ' कहकर नपुंसकत्व प्रदर्शित करनेवाला तक उन्होंने कह डाला। हिंसा और अहिंसा, युद्ध और मानवता का यह संतुलन श्रीकृष्ण के सिवा बहुत कम मिलता है।

मा : सच्ची मा

महायुद्ध रोकने और शांति-रक्षा के सब प्रयत्न निष्फल होने पर जब पांडवों के लिये केवल पाँच गाँव देने की माँग श्रीकृष्ण ने रक्खी, और दुर्योधन ने पाँच गाँव तो क्या, सुई की नोक-बराबर भी भूमि देना अस्वीकृत कर दिया, तब कृष्ण, निराश होकर, कुंती के पास गए। पांडव उस समय विराट्नगर में थे।

कृष्ण से कौरव-सभा का वृत्तांत सुनकर कुंती निराश और निरुत्साह नहीं हुईं। वीर-प्रसू जननी और तेजस्विनी क्षत्राणी की तरह कृष्ण से उन्होंने कहा—"हे कृष्ण, तुम युधिष्ठिर से कहना कि वह क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध करे। शांति का प्रयत्न निष्फल हो जाने पर जब युद्ध अवश्यंभावी है, तब मृत्यु की परवा न करके हम सब अत्याचारी की जड़ उखाड़ फेंकें। राष्ट्र के आधार धर्म की रक्षार्थ जूझ मरने के लिये तुम अर्जुन और भीम से भी कहना, और मेरा संदेश उन्हें देना कि क्षत्राणी जिस दिन के लिये पुत्र की कामना करती है, वह धर्म और कर्तव्य की वेदी पर आत्मत्याग करने का दिन, अब आ पहुँचा है। आड़े समय में वीर पुरुष कमर कसकर कठिनाई से भिड़ जाया करते हैं, शिथिल नहीं होते।

"कहना, विदुला का पुत्र जब युद्ध में हारकर मा के

पास मुँह छिपाने आया था, तब उसने उसे प्रोत्साहित करके पुनः युद्ध करने भेजा था, और युद्ध में वीर-गति पाने पर परम संतोष के साथ क्षत्रिय-माता का धर्म निबाहा था। उसी प्रकार मैं भी अपने पुत्रों का अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़कर मर जाना अधिक पसंद करूँगी, न कि कायरता-पूर्वक उनका जीवित रहना।"

कर्मयोगी कृष्ण माता के इन उत्साह-भरे वचनों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने गीता—कर्मयोग का उन्हें आधार बनाया, और पांडवों द्वारा अधर्म का मूलोच्छेद करा डाला।

प्राची की ज्योति : महान् बुद्ध

महाभारत का युग साम्राज्यवाद, वैभव-विलास और भोग-वृत्ति-प्रधान विचारधारा का युग था। जन-नायक श्रीकृष्ण के अथक प्रयत्नों के बावजूद उस युग में निवृत्ति-प्रधान आर्य-विचार-धारा—जिसमें जनतंत्र, श्रमाधारित निष्काम कर्म, धर्माचरण तथा सदाचार का संबल लेकर मोक्ष-पथ की यात्रा की जाती है—कुछ काल पनपकर फिर काल-चक्र के नेमि-क्रम में तिरोहित हो गई थी। सदियों तक उसके बाद मानवता के और मानव-धर्म के मूल्य गिरते ही गए, तब मानव एक स्वतंत्र कर्ता तथा निर्माता न होकर रूढ़िचालित समाज अथवा शास्त्र-यंत्र का एक पुर्जा-मात्र बन गया था। हिंसा, विलास, सामाजिक विषमता, वर्ग-शोषण और जातीयवर्गवाद का ही समाज में बोलबाला हो गया था, तब भारतीय संस्कृति की शायद निम्न- तम काष्ठा आ पहुँची थी।

ईसा से ५६३ वर्ष पहले कपिलवस्तु के शाक्य राजन्य वर्ग के नेता शुद्धोदन के औरस से सिद्धार्थ-नामक ऐसे बालक का जन्म लुंबिनी-उपवन में माता महामाया के गर्भ से हुआ, जो 'प्राची की ज्योति' गौतम बुद्ध नाम से भारत के ही नहीं, विश्व के इतिहास में अमर हो गया। महात्मा बुद्ध ने भारत के इति-हास को ही नहीं बदला, अपितु जीवन के वे अमूल्य मूल्य मान-

बता को दिए, जिन्हें युग-युग के और देश-देश के मानव ने अपने लिये सदा कल्याणमय पाया। सदियों बाद, जब सम्राट् अशोक के नेतृत्व में बौद्ध-सिद्धांत विश्व-शिरोमणि बने, उस प्रियदर्शी सम्राट् ने सिद्धार्थ के जन्म-स्थल पर एक विशाल स्मृति-स्तंभ की स्थापना की थी। दो हजार वर्ष से भी ज्यादा उम्र का वह स्तंभ आज भी धरती मां की उच्छ्रित भुजा की तरह क्षितिज से बहुत ऊपर उठकर उस महती आत्मा के अवतार की कहानी कह रहा है।

जन्म-कुंडली के ग्रहों को देखकर ज्योतिषियों ने बालक के चक्रवर्तित्व अथवा सन्यास की जो भविष्यवाणी की थी, वह इस माने में सच निकली कि वह विश्व का महानतम सन्यासी, महा-संबुद्ध आत्मा साबित हुआ।

सिद्धार्थ के जन्म के सातवें दिन उनकी मां का देहांत हो गया, और उन्हें उनकी मौसी महाप्रजावति गौतमी ने पाल-पोसकर बड़ा किया। इसीलिये वह सिद्धार्थ गौतम भी कहलाए।

राजन्य-पुत्र के अनुरूप सिद्धार्थ की शिक्षा-दीक्षा हुई, और वह अपने समय के अन्यतम राजपुत्र गिने जाने लगे। असित मुनि की भविष्यवाणी को ध्यान में रखते हुए शुद्धोदन ने डर के मारे सिद्धार्थ की शादी जल्दी ही यशोधरा नाम की राजकन्या से कर दी तथा सब तरह की विलास-सामग्रियों से उन्हें घेर दिया, जिससे उन्हें संसार से विराग पैदा न हो सके। लेकिन होनी को रोका न जा सका। जिज्ञासु सिद्धार्थ की नजरों के सामने जरा-जर्जर लड़खड़ाती देहयष्टिवाला एक असमर्थ बूढ़ा आ ही पड़ा।

उसके बाद, एक बीमार और तब एक मृत शरीर उन्होंने देखा। मानव-शरीर के परिवर्तन की इन विविध स्थितियों को देखने के बाद एक दिन उन्होंने मस्त चाल से निर्भय, निर्द्वंद्व विचरते एक वीतराग सन्यासी के भी दर्शन किए, और दुनिया के द्वंद्वों से निर्द्वंद्व होने के लिये त्यागमय तितिक्षा, अपरिग्रह, अस्तेय और तप का जीवन ही उन्हें ग्राह्य और श्रेष्ठतम लगा। उसी में उन्हें शांति और सुख की संभावना दिखाई पड़ी। संसार-सुखों की नश्वरता उनके दिव्य चक्षुओं के सामने स्पष्ट हो उठी। उन्हें संसारी बनाने के उनके पिता के सब प्रयत्न बेकार साबित हुए, और २९ वर्ष की उम्र में सिद्धार्थ गौतम अपने पुत्र सद्योजात राहुल की जन्म-रात्रि में, जब पिता का वैभवशाली प्रासाद रंग-रलियों, नाच-गान और उत्सव से उन्मद होकर सो रहा था—जब नर्तकियों और गृहस्थित नारियों के मदिर कटाक्ष और भ्रू-विलास, जो दिन-भर सिद्धार्थ के युवा मानस को मदमाता बनाने का प्रयत्न करके निद्रालस पलकों के तले आराम कर रहे थे, जब श्रम-श्रांत युवतियों का यौवन नैश विश्राम में उद्दाम और एकदम बेखबर होकर उनकी नजरों के सामने खुला पड़ा दुनिया के मजे लूटने के लिये दावत दे रहा था, वह उसके आकर्षण से अछूते ही रहकर, शांत, गंभीर मुद्रा में सौरी-घर के भीतर आए और प्रियतमा [illegible] का दर्शन करने के बाद, संसार के इस दृढ़तम बंधन को भी तोड़कर सर्वस्व त्याग कर संन्यास-मार्ग पर बढ़ने के लिये महल से निकल गए।

महलों के वैभव में पले इस नौजवान राजपुत्र ने सत्य और

मोक्ष-मार्ग की खोज में मर्मांतिक कष्ट झेले। जीवन की बाजी लगाई और तपस्या की परा काष्ठा तक वह जा पहुँचे। परंतु उन्हें शांति न मिली। तब उन्हें पता चला कि शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या-मात्र से मनुष्य को सच्ची शांति और सच्चा मार्ग नहीं मिलता। उन्होंने सोचा कि यह संसार नियति-चक्र के कुछ स्थिर नियमों के भीतर ही चलता है, जिसमें जीव-मात्र विविध प्रयत्न करते हुए एक योनि से दूसरी योनि में होकर जन्म-जन्मांतर गुजारते चले जाते हैं। जब तक जन्म-मरण का यह बंधन और क्रम चलता रहेगा, दुनिया की झंझटों से छुटकारा न मिल सकेगा। और वह गहन विचार-समाधि में मग्न हो गए। परिणामतः उन्हें जीवन का एक तरीक़ा सूझ गया, और इसी बोध के कारण वह 'बुद्ध' कहलाए।

बस, बुद्धि और तर्क पर आधारित, सदाचार, सादगी से भरे मानवतामय जीवन के अपने संदेश की उन्होंने सारनाथ में प्रथम घोषणा की, और यहाँ से ही उनका धर्म-चक्र प्रवर्तित हुआ। चूँकि मानवता के महामूल्यों की प्रतिष्ठा दुनिया में एक बार फिर महात्मा बुद्ध ने सारनाथ की इस घोषणा में की, इसीलिये विश्व मानव की उच्च पदवी संसार ने उन्हें दी, और इस युग के महामानव गांधी के अनुयायियों की सरकार ने भी उनके उस धर्म-चक्र को देश के राष्ट्रध्वज का चिह्न बनाकर मानव तत्त्वों की प्रतिष्ठा का सिद्धांत स्वीकार किया।

किसी प्रकार की भी असहिष्णुता गौतम बुद्ध को अप्रिय थी। वह सदा स्थिर, गंभीर, एकरस और सभी के लिये आकर्षक

और स्नेह-पूर्ण रहने में ही मानव-जीवन की सार्थकता मानते थे। चरम आत्मविश्वास और स्थैर्य, लाभालाभानपेक्षित्व और निष्कामिता उनके निश्चित गुण थे। दूसरों की गालियों और निंदा का उन पर कोई प्रभाव न पड़ता था। वह सदा मुस्किराते हुए प्रेम-पूर्वक प्रतिपक्षी का स्वागत करते और अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करते थे। दूसरे की भावनाओं को ठेस पहुँचाए बिना ही वह अपने विचारों का प्रचार किया करते थे।

विविध दुःखी तथा असहाय मानवता की ही नहीं, सकल जीव-मात्र की सेवा करना उनके सदाचार का अंग था। जाति और वर्ग, वर्ण और आश्रम की दीवारें उन्हें मानव-सेवा के इस व्रत से डिगा न पाती थीं। वास्तव में मानव मानव में विभेद करनेवाले विषम वर्गवाद का उनके धर्म में कोई स्थान ही न था। किसी का मत परिवर्तन कराने में ज़ोर-ज़बरदस्ती करना उनकी प्रकृति और धर्म के विरुद्ध था। अपनी ज़िंदगी के, दैनिक जीवन के व्यवहार और आचार द्वारा ही वह प्रतिपक्षी के हृदय में अपने सिद्धांतों के प्रति आस्था उत्पन्न कराते थे। मन की बुराई को, बुरे विचारों को अच्छे चरित्र और अच्छे विचारों द्वारा दूर भगाकर मानव का हृदय परिवर्तन करना ही धर्म-परिवर्तन का उनका मार्ग था। वह सब मतमतांतरों के अनुयायियों के साथ एक वेदी पर बैठकर उनके साथ विचार-विनिमय किया करते थे, और विवेक-पूर्वक धर्म-परिवर्तन करने को उन्हें प्रेरित करते थे। बल-पूर्वक धर्म-परिवर्तन के तरीक़े उन्हें अच्छे न लगते थे। महात्मा बुद्ध की इस सहिष्णुता और जन-

प्रियता का ही परिणाम था कि उन्हें कटु आलोचक सुकरात की तरह जहर नहीं पीना पड़ा, शंकर की तरह वह अकाल-मृत्यु के शिकार नहीं हुए, न ईसा की तरह उन्हें सूली पर ही चढ़ना पड़ा, न स्वामी दयानंद की तरह वह द्वेष के ही शिकार हुए। अस्सी बरस की लंबी आयु तक अहिंसा, शांति और विश्व-भ्रातृत्व का प्रचार करते हुए उन्होंने शांति-पूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

इतिहास के उस बहुत पुराने युग में, जब मानवता रूढ़ियों और रिवाजों, सिद्धांतों और कर्मकांडों, सामाजिक विषमताओं और वर्ग-शोषण की चक्कियों में पड़कर पिसी जा रही थी, बुद्ध ने उसे मुक्ति दिलाई, और स्वच्छंद विचार, स्वतंत्र आचरण तथा उन्मुक्त अस्तित्व में साँस लेने का उसे मौका दिलाया। सबसे पहले उन्होंने इंसान को अपनी अक्ल और समझ के अनुसार हर बात समझ-बूझकर हितकारी मार्ग अपनाने की सुबुद्धि दी। इसके अलावा आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास का सबक उन्होंने उसे सिखाया। सत्यमार्ग स्वयं खोजकर साहस-पूर्वक उस पर चलना तथा आगे बढ़ना सिखाया। उनकी तीसरी सबसे बड़ी देन थी मानवता की प्रतिष्ठा। जीव-मात्र एक है और उसे जीने देना और स्वयं जीवित रहते हुए अद्वेष पूर्वक दूसरों को भी जीवित रहने देने की उन्होंने प्रेरणा दी। उनकी अहिंसा का यही मूल-मंत्र था। बुद्ध की चौथी बड़ी देन है जन-संपर्क-वृत्ति। रईसों और बड़े लोगों तक ही अपनी पहुँच सीमित न रखकर उन्होंने रास्ता चलते आदमी से भी संपर्क स्था-

पित करके जनता की भाषा में उसकी कुटिया के दरवाजे अलख जगाकर उस तक अपनी विचारधारा उन्होंने पहुँचाई।

यही कारण था कि हिंदू-धर्म की उदारता ने उन्हें अवतार माना। बौद्ध लोग भी जब तक महात्मा बुद्ध के सीधे-सादे उप-देशों पर चलते रहे, सुखी रहे और फले-फूले; किंतु वैभव और साम्राज्य की लिप्सा तथा संप्रदायवाद की संकीर्णता ने, जो बाद को उनमें आ घुसी, बौद्धों को ऐसा नष्ट-भ्रष्ट किया कि उन्हें भारत ही छोड़ देना पड़ा। वे स्वयं विश्व के लिये एक अभि-शाप बन बैठे। चंगेजखाँ, हलाकू और थीनांडर-जैसे रक्त-पिपासु नर-राक्षस बौद्ध ही थे। बुद्ध-जीवन और बाद के बौद्ध-धर्मानुयायियों के जीवन की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के उपदेशों के गलत माने लगाने के कारण भारत के इतिहास पर ही नहीं, मानवता के महान् इतिहास पर भी कितना प्रभाव पड़ा।

★

तुषों की चिता पर

कौशांबी की बौद्ध राजधानी में आचार्य कुमारिल भट्ट ब्राह्म मुहूर्त से पहले ही जागकर नित्य-कर्म से निबटने गंगा-तट की ओर जा रहे थे। उस समय त्रिवेणी का प्रवाह कौशांबी के निकट ही बहता था। देश-देशांतर से आनेवाले बौद्ध भिक्षुओं के दल-के-दल माघ-संक्रांति के उपलक्ष्य में होनेवाले सम्राट् हर्षवर्धन द्वारा प्रचालित बौद्ध-मेले में सम्मिलित होने के लिये कौशांबी में इकट्ठे हो रहे थे। बौद्ध-राजाओं की तलवार ने हिंदुत्व की जड़ें हिला दी थीं। लाखों नर-नारी जबरदस्ती बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर लिए गए थे। वज्रयान के भोग-प्रधान मार्ग ने देश में 'खाओ-पियो, मौज उड़ाओ' के अनुयायी बौद्ध भिक्षुओं के अनुकर्ताओं की बड़ी संख्या पैदा कर दी थी। वैदिक कर्मकांड नाम-शेष हो गया था। कौशांबी के उपांत को आचार्य कुमारिल अभी पार न कर पाए थे कि उन्हें नारी के करुण कंठ से निकला हुआ विलाप सुनाई दिया—"किं करोमि, क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति ?" "आह! कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, अब कौन वैदिक संस्कृति का उद्धार करेगा ?"

दिग्गज विद्वान् कुमारिल के पाँव रुक गए। ठेस खाया हुआ आर्यत्व तिलमिला उठा। आर्य कुमारिल ने प्रतिज्ञा की—"कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्" "या तो वैदिक-संस्कृति का

उद्धार ही करूँगा या शरीर का अपघात ही कर लूँगा। अब इस अपमानित आर्यत्व को ज्यादा दिन चलने न दूँगा।"

आचार्य ने शास्त्रार्थों की धूम मचा दी, उत्तर-भारत के सभी बौद्ध-केंद्रों में जाकर उन्होंने वैदिक कर्मकांड की विजय-दुंदुभि बजानी शुरू की। किंतु अगले वर्ष प्रयाग के बौद्ध-मेले में, राजाओं और बौद्ध-आचार्यों की महती सभा में, बौद्ध भिक्षुओं की हुल्लड़बाजी के कारण, आचार्य कुमारिल को परास्त होना पड़ा। हिंदुत्व को बेहद अपमानित होना पड़ा। हजारों हिंदुओं को उस दिन प्रयाग में जबरदस्ती बौद्ध बना डाला गया। ईश्वर, वेद और वैदिक कर्मकांड की खिल्ली उड़ाई गई। खुले आम कहा जाने लगा—"त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।" आचार्य कुमारिल का चित्त अपमान से क्षुब्ध हो उठा। निराश आचार्य ने उसी दिन धान की भूसी मँगवाकर चिता सजाई, और महान् क्षत्रिय-वीरों के समान, आत्मबलिदान का निश्चय कर, चिता में स्वयं आग लगाकर उस पर जा बैठे। राष्ट्रीय संस्कृति और विचार-धारा के एकांत विनाश को वह न सह सके, और उसकी रक्षा में अपने को पराजित होते देख उन्होंने मृत्यु को आलिंगन करना स्वीकार किया।

त्रिवेणी-संगम पर, उस माघ-संक्रांति के मेले में, आचार्य कुमारिल से साक्षात् करने की इच्छा लेकर, एक युवा संन्यासी, जिसके तेजःपुंज से दिग्दिगंत व्याप्त हो रहा था, दक्षिण-भारत के अनेकों महात्माओं की मंडली के साथ, धावे पर धावे मारता चला आ रहा था। शंकर नाम था युवक का। प्रातःकाल ही

वह गंगा-तट पर आचार्य के चितारोहण का समाचार सुनकर तेज़ी से वहाँ आया। चिता जल रही थी, और आचार्य शांति-पूर्वक वेद-मंत्रों का उच्चारण करके प्रायश्चित्त की अग्नि में दीप्त होने जा रहे थे। युवा संन्यासी की आँखों में आँसू आ गए। आर्य-संस्कृति के अपमान की कथा सुनकर आचार्य कुमारिल को उनके भयानक निश्चय से रोकने के लिये उसने बड़ा प्रयत्न किया, किंतु शंकर का हृदय जल उठा। तब आचार्य ने कहा—"वत्स, आर्य राजा नपुंसक हो गए हैं, उनके खड्ग आर्यत्व की रक्षा नहीं कर सकते, हमारे शास्त्रों में इतनी मिलावट कर दी गई है कि हम सत्य और मिथ्या के विवेचन में असमर्थ हो गए हैं। हमारी जनता इतनी भय-त्रस्त है कि व्यभिचारी बौद्ध महंतों और मठाधीशों की भिक्षु-सेना के डर के मारे अपना दैनिक कर्म-कांड भी स्वतंत्रता-पूर्वक नहीं कर सकती। देश में फूट है। छोटे-छोटे राज्य असंगठित और एक दूसरे के शत्रु हैं। जब तक सारे देश में आर्यत्व का, कर्मठ ईश्वर-विश्वास का, निवृत्ति-प्रधान निष्काम कर्म का ज्ञान जनता को नहीं होगा, तब तक वैदिक संस्कृति की रक्षा नहीं की जा सकती। मैंने प्रयत्न किया, किंतु अन्य कोई हिंदू मेरा साथ देने को तैयार नहीं था। अतएव मैंने इस अपमान-पूर्ण जीवन का अंत कर देना ही उचित समझा। तुम युवक हो, तुम्हारा ज्ञान अगाध है। देश में ऐसी आग लगाओ, जिससे दुराचारी मठाधीशों का यह ढोंग जलकर तप्त कांचन-सा शुद्ध वेदों का सार जनता पा सके, वैदिक संस्कृति जीवित हो उठे, स्वदेश और स्वसंस्कृति की महत्ता लोग समझने लगें।

शंकर के युवक हृदय को उस आत्मबलिदान के दृश्य ने प्रतिज्ञा करने के लिये प्रेरित किया। युवा संन्यासी मेले के एक छोर से दूसरे छोर तक अनवरत घूमता रहा। वैदिक विद्वानों को संगठित करके उसने एक महान् योजना का सूत्रपात किया। एक मास के भीतर ही भारत के प्रसिद्ध विद्वान् त्रिवेणी-संगम पर एकत्र हो गए। माहिष्मती का युवक राजा सुधन्वा सभा का प्रधान बनाया गया। शंकर ने बौद्धों को शास्त्रार्थ का खुला चैलेंज दे दिया। हारनेवाले को विजेता का मत स्वीकार करने की शर्त रख दी गई। अनेक दिन के शास्त्रार्थ के बाद बौद्ध लोग हार गए, और उन्हें बौद्ध-धर्म त्यागने के लिये बाध्य होना पड़ा। जिन्होंने गुंडापन दिखाया, और शस्त्र-प्रयोग से शंकर का अपमान करना चाहा, उन्हें सुधन्वा के सैनिकों ने तलवार के घाट उतार दिया। वज्रयान के दुराचारी मठाधीशों के मद्य-मांस और मैथुन के मार्ग ने पाप-रूप का विष-घड़ा भर दिया था, जिसे आचार्य कुमारिल के रक्त ने छलका दिया, और शंकर की ठोकर ने फोड़ दिया। वैदिक संस्कृति-सागर का मंथन करके धन्वंतरि सुधन्वा के हाथ में शंकर ने जिस वेदांत-रूप अमृत का कुंभ दिया, उसे पीकर आर्य-जाति फिर जाग्रत् हो उठी—असुरत्व का नाश हुआ, देवत्व अमर हो गया। उसी दिन शंकर ने देश के चार धामों की यात्रा का विधान किया कि प्रत्येक हिंदू अपनी विशाल मातृभूमि का ओर-छोर दर्शन करके उसे देखे, पहचाने और उसके लिये जीना-मरना सीखे। उसी दिन उन्होंने प्रति छठे वर्ष हिंदू-शास्त्रों और हिंदू-समाज के आत्मनिरीक्षण के

लिये महासम्मेलन की व्यवस्था उत्तर में हरिद्वार और प्रयाग तथा दक्षिण में उज्जैन एवं नासिक में की। छठे वर्ष का मेला अर्धकुंभ और बारहवें वर्ष का पूर्ण कुंभ कहलाया। उस देवासुर-संग्राम की स्मृति में महाकुंभ का राष्ट्रीय पर्व मनाया जाता है। किंतु हममें से कितने फिर से राष्ट्र के पुनर्जीवन और सुधार की वांछनीय भावना लेकर वहाँ से लौटते हैं ?

कलियुग का दधीचि वीर संयमराय

बुंदेलखंड पर आक्रमण करके सम्राट् पृथ्वीराज बहुत पछ-ताए। महोबे के कुछ शरारती सैनिकों ने भूले-भटके चौहान-सैनिकों को लड़कर मार डाला था, केवल इसलिये कि वे मूछें ऐंठे महोबे के बाज़ार में घूमकर मसीली और गजगामिनी चंदे-लनों को घूर रहे थे। पृथ्वीराज ने जब यह सुना, तो चंदेल महाराज परमर्दिदेव से, जिन्हें लोग परमाल भी कहते हैं, कहला भेजा कि इस अपराध के लिये क्षमा माँगें, अथवा लड़ने के लिये तैयार हो जायँ। माहिल के मंत्र पर चलनेवाले चंदेल कब चूकनेवाले थे। ऐंठ कर करारा जवाब दिया दिल्लीपति को।

तुरंत रण-भेरी बजाती कैमास की रणवाहिनी महोबे पर चढ़ चली। इधर से उद्धत ऊदल के नेतृत्व में चंदेले भी आगे बढ़े। उरई से २२ मील दूर, अकोड़ी गाँव के निकट, विकट संग्राम हुआ। कन्ह, चामुंडराय आदि हज़ारों सामंत और सैनिक चंदेले ऊदल की चपल चंचला की धार से लिपटकर स्वर्ग सिधारे। कुछ देर बाद कैमास की तलवार से ऊदल का भी सिर कट गया, पर उस ब्रह्मचारी क्षत्रिय का धड़ कुछ समय तक तलवार चलाता रहा।

ऊदल की मृत्यु ने गंभीर आल्हा को भी क्षुब्ध कर दिया, और उसने ऐसी भयंकर तलवार उस दिन चलाई कि सहस्रों

सैनिक धराशायी हो गए। पृथ्वीराज को बचाने की चेष्टा करता हुआ अंगरक्षक सामंत संयमराय राठौर भी उनमें था। उसकी चोट यद्यपि घातक न थी, तो भी वह चल-फिर नहीं सकता था, और मरे हुए सैनिकों के ढेर में एक कोने पर पड़ा सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था।

एकाएक चौहानों की सेना में भगदड़ पड़ गई, और संयम-राय ने कुहनी के बल ऊपर उठकर देखा कि आल्हा के प्रचंड विक्रम से त्रस्त दिल्ली की सेना भाग रही है, और सम्राट् पृथ्वीराज आवेश-पूर्वक उसे रोकते हुए बढ़ावा दे रहे हैं। महा-राज का वीर नेतृत्व पाकर सेना एक बार फिर रुकी, और चंदेल युवराज ब्रह्मवर्मा की सेना से भिड़ गई। घमासान फिर मच गया। स्वयं सम्राट् पृथ्वीराज युवराज ब्रह्मवर्मा से द्वंद्व-युद्ध करने लगे। पृथ्वीराज के मँजे युद्ध-कौशल के आगे युवक चंदेल देर तक न टिक सका, और छिन्न-मूल वृक्ष की तरह चौहानी तलवार से कटकर गिर पड़ा। गिरते-गिरते उसने पृथ्वीराज को ऐसा मारा कि वह भी लाचार होकर संयमराय के पास ही धराशायी हो गए। रक्त और कर्दम से सना आल्हा अकेला रण-क्षेत्र में घूम रहा था। ७ फ़ीट ऊँचा उसका विशाल डील-डौल उस तांडवी रण-सज्जा में बड़ा भया-नक लग रहा था। मरे हुए सैनिकों में वह प्यारे छोटे भाई ऊदल और ब्रह्मवर्मा को ढूँढ़ रहा था। हज़ारों लाशों में से उन्हें ढूँढ़ निकालना कठिन था। दोपहर ढलकर संध्या का अँधेरा आनेवाला था। गीदड़ और गिद्ध रण-क्षेत्र पर मँडरा रहे थे,

और सैनिकों की आँखें तथा मांस निकाल-निकालकर खा रहे थे। मूर्च्छित पृथ्वीराज की जब चेतना जागी, तो वह इस भयानक नर-संहार को देखकर अनुतप्त हो उठे। उन्हें ऐसा लगा कि कुछ देर में ही वह भी गिद्धों और शृगालों का भोजन बन जायँगे। लंबी साँस लेकर वह चिल्ला उठे—"हा विधाता! क्या इस मौत से ही मरना होगा!"

घायल सम्राट् के ये हृदय-बेधी शब्द संयमराय और आल्हा ने सुने। वीर आल्हा यदि चाहते, तो पृथ्वीराज का वहीं अंत कर देते, परंतु उन्होंने घायल शत्रु पृथ्वीराज को सांत्वना दी कि जब तक वह रण-क्षेत्र में हैं, उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। उन्होंने यह भी कहा कि देश पर मुसलमानों के भावी आक्रमण के ठीक अवसर पर चौहानों और चंदेलों ने लड़कर भारत की स्वतंत्रता का नाश कर दिया है, और अब वह देश की पराधीनता का घोर दृश्य देखने के लिये वहाँ नहीं रहना चाहते, ऊदल और ब्रह्मा का दाह करके अज्ञातवास ले लेंगे।

शीघ्र ही उन्हें दोनो वीर भाइयों के शव मिल गए, और वह भयंकर दानवी शक्ति के बल से उन्हें कंधों पर रखकर रण-भूमि से चले गए। उस दिन के बाद फिर किसी ने उन्हें नहीं देखा।

थोड़ी देर बाद उतरती धूप में सैकड़ों गिद्ध और गीदड़ श्मशान से सुनसान उस शव-भरे मैदान में आ जुड़े। वीर पृथ्वीराज का कलेजा भी उस पाशवी सेना को देखकर काँप उठा, और बहुत कातर दृष्टि से वह अपने बचाव के लिये चिंतित हो

उठे, किंतु उन्होंने देखा कि मँडराते हुए गिद्ध और ललचाते, लपलप जीभोंवाले सियार उनके पास से होकर थोड़ी दूर पड़े संयमराय की ओर ही चले जा रहे हैं। उन्होंने आँखें गड़ाकर यह भी देखा कि वीर संयमराय अपने शरीर का मांस काट-काटकर उन पशु-पक्षियों को खिला रहे हैं, इस प्रकार अपने राजा को भयंकर मृत्यु से बचा रहे हैं। स्वामि-भक्त संयम-राय के इस महान् आत्मत्याग को देखकर विवश पृथ्वीराज की आँखों से कृतज्ञता के आँसू बह चले। थोड़ी देर में ही आल्हा से समाचार पाकर महाकवि चंद तथा कैमास पृथ्वी-राज के पास आ पहुँचे, और उन्हें उठाने लगे। परंतु चौहान-वीर पृथ्वीराज ने उनसे पहले संयमराय की सहायता करने को कहा। तुरंत चंद और कैमास वहाँ गए। परंतु कलियुग का दधीचि आत्मत्यागी संयमराय पहले ही स्वर्ग सिधार चुका था।

आँसुओं की श्रद्धांजलि उस महान् वीर के चरणों में अर्पण कर सम्राट् पृथ्वीराज ने प्रतिज्ञा की कि उसके नन्हे-से पुत्र लंगरीराय का वह अपने पुत्र की तरह पालन-पोषण करेंगे।

महाकवि चंद ने वीर संयमराय की प्रशंसा में जो दोहा लिखा, वह आज भी विश्व-साहित्य की अमर विभूति है।

राजस्थान का भीष्म

चारण शीतलदान घोड़े की रास हाथ में पकड़े, सिर झुकाए, चिंतित मुद्रा में, चित्तौड़ के सूरजपाल फाटक से ज्यों ही बाहर निकले कि अपने वीर और मौजी साथियों के साथ शिकार से लौटते हुए युवराज चूँडाजी से एकाएक उनका सामना हो गया। विजया दशमी से पहले प्रारंभ होनेवाले मेवाड़ी अहेरिए में सिंह का शिकार करके लौटे, उत्साह-भरे चूँडाजी ने मुरझाए चारण की ठोड़ी में हाथ लगाकर उसकी आँखों में आँखें डाल दीं, और चिंतित स्वर में पूछा—

"क्या हुआ काकाजी ? सदा वीर-रस से दमकनेवाला आपका दिव्य मुख-मंडल, जिसके एक-एक शब्द से मेवाड़ की नसों में गर्म लहू खौल उठता है, आज उदास और मलिन क्यों है ? पूजनीय पिताजी अच्छे तो हैं ? राज्य में कुशल तो है ? मैं तो आज ९ दिन से बाहर था। मनुष्य की दुनिया से दूर, हिंस्र पशुओं के भयावह जंगलों से लौट रहा हूँ। तुरंत ही अपनी चिंता का कारण मुझसे कहिए।"

चारण की आँखों में आँसू आ गए, और रुँधे कंठ से वह बोला—"बेटा, आज दस रोज से महाराज न ठीक से सोए हैं, और न उनका चित्त ही शांत है। राठौर रायमल की बहन हंसा को जब से उन्होंने देखा है, वह उन्मन हैं। यदि यही दशा

रही, तो संभव है, उनके इस अधिक आयुवाले शरीर पर मार्मिक आघात पहुँचे ।"

चूँड़ाजी ने पूछा—"क्या यह संभव नहीं कि राणाजी हंसा से विवाह कर सकें ? हमारे वंश में अनेकों रानियाँ होना कोई नई बात नहीं !"

तुम नहीं जानते हो चूँड़ाजी, चारण ने कहा—"रायमल बड़े चालाक हैं । राणाजी की इस कमजोरी का वह पूरा-पूरा फ़ायदा उठाना चाहते हैं । उन्होंने शर्त रख दी है कि यदि हंसा के गर्भ से उत्पन्न होनेवाला पुत्र गद्दी का मालिक होगा, तभी यह विवाह हो सकता है । राणाजी आपको प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, और वह किसी प्रकार भी इस विवाह के लिये उद्यत नहीं हैं । किंतु मन की वृत्तियों पर भी वह अपना अधिकार नहीं कर पा रहे हैं । आज मेवाड़ का जीवन संकट में है । चारों ओर मुस्लिम-राज्य फैलते जा रहे हैं, और इस समय हिंदू-कुल-कमल-दिवाकर मेवाड़-नरेश के सिवा किसी में भी वह राजनीतिक योग्यता नहीं है, जिससे देश और धर्म की रक्षा हो सके । कामिनी और कंचन, जो अनादि काल से मानव के पतन के साधन रहे हैं, आज मेवाड़ को भी विनाश की ओर ले जा रहे हैं ।"

जोशीले स्वर में चूँड़ाजी बोले—"चिंता न करो काकाजी, प्यारे मेवाड़ के लिये चूँड़ाजी क्या नहीं कर सकता ? जाओ, तुरंत लौट जाओ; राणाजी से जाकर कह दो कि चूँड़ाजी ने प्यारे पिता के सुख और संतोष के लिये, मेवाड़ की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये, हिंदू-धर्म की आन के लिये, मेवाड़ की गद्दी

का हक अपनी इच्छा से छोड़ा है। क्षत्रिय का पुत्र हूँ। अपने लिये अपनी तलवार और भुजा के बल पर नया राज्य पैदा कर लूँगा। मैं और मेरे साथी अब विना बुलाए मेवाड़ की सीमा में कभी प्रवेश न करेंगे। महाराज एकलिंग की सौगंध खाकर कहता हूँ कि मा हंसा के गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र ही मेवाड़ की गद्दी का अधिकारी होगा। मैं और मेरा वंशज सदा मेवाड़ की गद्दी के सेवक रहेंगे।"

यह कहकर क्षत्रिय-युवकों की वह छोटी-सी टुकड़ी घोड़ों को एड़ लगाती हुई क्षण-मात्र में चित्तौड़ के बाहर हो गई। आश्चर्य-चकित शीतलदान दूर, बहुत दूर उड़ती हुई धूल को देखता ही रह गया। बहुत दिनों तक चूँड़ाजी का कोई समाचार मेवाड़ नहीं पहुँचा, किंतु इस बीच उन्होंने अपनी तलवार के बल से सलूंबर पर अधिकार कर लिया, और उसे एक सुसंगठित राज्य बना डाला। हंसा के साथ महाराणा लाखाजी का विवाह संपन्न हो गया, और उसके कुछ दिन बाद मोकलजी का जन्म हुआ।

जिस समय उसे युवराज घोषित करने का उत्सव मेवाड़ में मनाया जा रहा था, सलूंबर से एक राजदूत बहुमूल्य उपहार और नजराना लेकर दरबार में उपस्थित हुआ। वृद्ध महाराणा के सामने जब उस विचित्र राजदूत को उपस्थित किया गया, तो वह बोला—"महाराज, सलूंबर के नए अधिपति राव चूँड़ाजी ने नत-मस्तक हो यह नजराना भेजा है, और श्रीचरणों में अपनी तलवार निवेदन करके महाराज की वंशवदता स्वीकृत होने की प्रार्थना की है। सलूंबर का राज्य मेवाड़ का ठिकाना समझा

जाय।" चमत्कृत होकर राणाजी सिंहासन से उठ खड़े हुए। "कहाँ है मेरा चूँड़ाजी, मैं उसे देखना चाहता हूँ।" और नज़राने को छूकर उन्होंने चूँड़ाजी की तलवार अपने ललाट से छुआ ली।

वह बोले—"इस घोर कलियुग में भी महान् देवव्रत भीष्म के आदर्श को सजीव कर देनेवाले चूँड़ाजी की यह वीर भुजा मेवाड़ के सम्मान के योग्य है। युग-युगांतर तक चूँड़ाजी की अक्षय कीर्ति, शांतनु-पुत्र भीष्म के यश के समान, मेवाड़ के इतिहास में अमर रहेगी। मैं इस प्रचंड खड्ग को मेवाड़ की दाहनी भुजा घोषित करता हूँ। सब सरदार आगे जाकर सम्मान के साथ राजपुत्र-शिरोमणि चूँड़ाजी को दरबार में लाओ, जिससे वह नवीन युव-राज को अपने हाथ से तिलक कर सकें। आज से चूँड़ाजी और उनके वंशजों के तिलक दिए बिना कोई भी राणा मेवाड़ की गद्दी का अधिकारी नहीं समझा जायगा।" यह कह अश्रु-प्लावित नेत्रों से महाराणा पुत्र के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। जब तक चूँड़ाजी ने आकर अपनी कनिष्ठिका के रक्त से अपने छोटे भाई को तिलक नहीं कर दिया, तब तक महाराज ने उनके युव-राज होने की घोषणा नहीं की।

आज भी सलूंबर के चूँड़ावतों द्वारा तिलक किए बिना मेवाड़ के राणा गद्दी पर नहीं बैठते।

☆

न्याय-तुला

साढ़े आठ सौ वर्ष पहले गुजरात में भयानक वर्षा हुई । छोटी - सी नदी रूपल, जिसे रोककर महाराज कर्ण सोलंकी ने कर्णसागर की रचना की थी, उमड़ चली, और उस महान् बाँध की छाती चीरकर कच्छ की खाड़ी की ओर बह चली । कर्ण-सागर नाम शेष रह गया ।

गुजरात के कुएँ सूखने लगे, और प्रजा के कष्ट का समा-चार गुजरात की महारानी के कानों तक पहुँचा । सिद्धराज जयसिंह, कर्ण सोलंकी और मृणालदेवी का पुत्र, उस समय छोटा था । मृणालदेवी आंबड़ मेहता के मंत्रित्व और अपनी देख-रेख में गुजरात का शासन चला रही थीं । मृणालदेवी स्वयं अपनी आँखों प्रजा की दशा देखने के लिये गुजरात का दौरा करने को निकल पड़ीं । धोलका के पास, जहाँ आज मैनाल तालाब बना है, मैदान था । एक दिन मृणालदेवी की सवारी वहाँ पहुँची । उस मैदान के एक किनारे ही गुजरात का राजप्रासाद था, और दूसरे छोर के निकट मैदान के बीच पूरब की ओर था एक मकान गायत्री-नामक वेश्या का, जो अब बूढ़ी होकर धार्मिक जीवन व्यतीत कर रही थी । प्रजा का जल-कष्ट निवा-रण करने के लिये मृणालदेवी ने राजप्रासाद गिराकर उस मैदान में बड़ा जलाशय बनाने की आज्ञा दी । भूमि के मालिकों

जिसके त्याग ने तलवार को भोथरा कर दिया।

महाराणा प्रताप

विश्व-बंधुत्व और धर्मनिरपेक्षिता के इस युग में उस दिन जब हम 'प्रताप' का जिक्र करने लगे, हमारे एक सहकारी मित्र अवज्ञा-पूर्वक बोले—"क्या पुरानी कथा लिखने जा रहे हैं आप ? बार-बार वही पचड़ा। क्या धरा है इन कथाओं में।" 'धर्मनिर-पेक्षिता' का अर्थ शायद धर्म का बहिष्कार समझा जा रहा है। धर्म का अर्थ यदि उन कट्टर अमानवीय आचार-विचारों का है, जिन्होंने मनुष्य को मनुष्य नहीं रक्खा, तब तो हमें उनके त्याग में कोई आपत्ति नहीं, किंतु यदि धर्मनिरपेक्षिता का अर्थ आर्य-संस्कृति के आस्तिकता, सदाचार, वेदशास्त्र-निर्भरता और मनुष्यत्व की भावना आदि तत्वों का, जो उसके मूलाधार हैं—बहिष्कार समझा जा रहा है, तो उस बात के साफ़ तौर पर कह देने का समय आ गया है कि अनंत काल से चली आने-वाली आर्य-संस्कृति के इन तत्त्वों की रक्षा करने के लिये प्रत्येक भारतीय प्राणों की बाजी लगा देगा। हमारी संस्कृति मानवता की संस्कृति है। पाश्चात्य संस्कृति उसके विपरीत आपाधापी और भौतिकता का पोषण करती है। इन दोनों संस्कृतियों का संघर्ष अनादि काल से होता आया है। इंद्र और वृत्र, मांधाता सुदास, राम-रावण, नरसिंह-हिरण्यकश्यप, बलि-वामन, वराह-हिरण्याक्ष,

परशुराम-कार्तवीय, कौरव-पांडव, सभी युद्ध सांस्कृतिक युद्ध थे, जिनमें भलाई ने बुराई को परास्त करके मानवता के चमकीले और स्वस्थ पहलू - को जीवित रक्खा। चंगेज़, हलाकू, नादिर-शाह, ग़ोरी, ग़ज़नवी, अब्दाली, औरंगज़ेब, अलाउद्दीन, मुहम्मद तुग़लक़—यह नामावली है भारत के इतिहास की, जिसे स्मरण करते ही ख़ून, डाका, अत्याचार, लाखों निरीह प्राणों के बलि-दान, महिलाओं के सतीत्व की ज्वलंत चिताएँ, क़त्ले-आम और तिल-तिल तड़पाकर मारने की अमानुषिक यंत्रणाएँ मूर्तिमती होकर सामने खड़ी हो जाती हैं। कितना अनंत और युग-युग-व्यापी बलिदान दिया है भारत की हिंदू-जाति ने, केवल इस-लिये कि इंसान ईश्वर, त्याग, सदाचार, सतीत्व, ज्ञान, बुद्धिवाद और मानवता के वस्तुतत्त्व को न भूल जाय! इस अपरिमित बलिदान का ही परिणाम है कि आज विश्व में मानवता साँस ले रही है, अन्यथा रावण की मांस, मदिरा, मैथुन और सोने-चाँदीवाली संस्कृति की मोहक दबोच में पड़कर वह कभी की मर गई होती।

आर्य-संस्कृति का सबसे बड़ा संरक्षक इक्ष्वाकुओं का वंश आज भी जीवित है। आर्य-युवक आज भी सिर ऊँचा किए खड़े हैं। आर्य-जाति, जिसने संसार को सबसे पहला मानवीय ज्ञान दिया, अपने वेद और शास्त्रों के लिये आज भी प्राणोत्सर्ग करने के लिये तैयार है। तब आसुरी संस्कृति के पक्षपातियों के कहने-मात्र से कैसे ३५ करोड़ भारतीय अपनी प्राचीन संस्कृति को तिलांजलि देकर निरपेक्ष बन सकते हैं, कैसे प्रताप, शिवाजी,

गुरु गोविंदसिंह, बंदा बैरागी, हक़ीक़तराय को भुला सकते हैं ? यदि मानवता जीवित रहना चाहती है, तो उसे पश्चिम की आसुरी संस्कृति को त्यागकर आर्य-संस्कृति की उदार गोद में आना ही होगा। विश्व-शांति के लिये असुरों का हिंसा-मार्ग त्यागकर आर्यों का त्याग, सत्य और अहिंसा-मार्ग अपनाना होगा। दोनो संस्कृतियों का यह अनंतकालीन संघर्ष अब तो आर्य-जाति के सिद्धांतों की विजय में परिणत होकर ही रहेगा।

तब उस अनंत बलिदान-ज्योति की अन्यतम स्फूर्ति महाराणा प्रताप को श्रद्धांजलि देना हम भारतीयों का अडिग कर्तव्य है।

आसुरी संस्कृति अकबर के नेतृत्व में सारे देश पर छा गई थी। तलवार ही उसका बल था, अत्याचार और कट्टरता उसका शस्त्र। दीन इलाही की मक्कारी भी आसुरी माया का एक अमोघ अस्त्र था, जिसके चक्कर में पड़कर अनेक बदनसीब अपने को खो बैठे।

आर्य-संस्कृति प्रताप के नेतृत्व में—इक्ष्वाकुओं के अनादि कालीन नेतृत्व में—फिर एक बार आसुरी संस्कृति के सामने डट गई, और पच्चीस साल तक तलवार का जवाब त्याग, तपस्या, बलिदान और ईश्वर-विश्वास के अचूक शस्त्रों से देती गई। विशाल मुग़ल-साम्राज्य का अनंत बल, अतुल संपत्ति, अपरिमेय शक्ति तथा अपार सुख-ऐश्वर्य भी उसे अपने असि-धारा-व्रत से न डिगा सका। आसुरी सोने की लंका के अनंत ऐश्वर्यों और विलासों का आकर्षण जिस प्रकार आर्य-संस्कृति की प्रतीक देवी सीता

को विचलित न कर सका, उसी प्रकार मुगलों का आसुरी बल-वैभव भी हमारी संस्कृति को नष्ट न कर सका।

राजाओं के बल पर संस्कृतियाँ कभी जीवित नहीं रहीं। साधारण जनता के रक्तिम बलिदान, अनंत साधना, कठोर तप तथा अपरिमित त्याग ही उन्हें जिंदा रखते हैं। मेवाड़ तथा समस्त भारत की आर्य-जाति ने अपने स्वार्थ-त्याग, सहिष्णुता और साहस से महाराणा की सहायता की। तभी आर्य-संस्कृति का चिरंतन प्रतीक चित्तौड़ अपनी टेक—'जो दृढ़ राखे धर्म को, तेहि राखे करतार'—निभा सका। धर्म की रक्षा ने वास्तव में उस कठिन काल में चित्तौड़ को बचा लिया। सहारा के दिग्-दिगंत-व्यापी महामरुस्थल में खड़े नखलिस्तान की तरह मुग़लों के आसमुद्र-व्यापी आसुरी साम्राज्य में आर्य-संस्कृति का प्रतीक मेवाड़ एकाकी खड़ा रह गया था। मर्यादा-पुरुषोत्तम का वंश-धर यह आर्य-नेता भी यदि हथियार डाल देता, तो सदा के लिये मानवता नष्ट हो जाती, और दानवता ही आज दुनिया पर छाई होती। किंतु प्रताप के नेतृत्व में आर्य-संस्कृति ने अपार कष्ट और अनेकों दुःखों को सहकर भी आर्य-अस्त्रों—त्याग, तपस्या, बलिदान और ईश्वर-विश्वास—से आसुरी तलवार को कुंठित कर दिया। प्रताप ने आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिये अपनी भरी जवानी, महलों के ऐश्वर्य, शरीर के सुखों का मुँह नहीं देखा। सब कुछ उत्सर्ग करके यह आत्मत्यागी आर्यवीर आर्य-जाति को सदा के लिये कृतज्ञ बना गया। इसीलिये उसे शतनमस्कार हम सदा किया करते हैं।

आज भी आर्य-संस्कृति दो चक्की के पाटों में पड़ी हुई है। देश के खंड-खंड हो जाने पर भी उसे पनपने का अवसर नहीं है। जिस आसुरी संस्कृति ने आज से कुछ वर्ष पहले असंख्य आर्य-ललनाओं, बच्चों और बूढ़ों की जान, इज्जत-आबरू ली, जवानों का अपार रक्त और धन चूसा, वह न केवल देश के आगे-पीछे ही बलबला रही है, अपितु घर में भी उसके पक्षपाती मद्य-मांस-मैथुन के समर्थक शिश्नोदर-संप्रदायी लोग सूत्र-संचालन कर उठे हैं। वे आर्य-संस्कृति का नाश कर दे सकते हैं। इसलिये इस समय एक त्यागी, कष्ट-सहिष्णु, धर्मवीर प्रताप की फिर हमें जरूरत है, जो हमारा नेतृत्व कर सके।

कर्तव्य और प्रेम का कठिन पथ

चूड़ावत रतनसिंह की बारात बूँदी से लौटकर सलूंबरा आई ही थी कि चित्तौड़ में मारू डंका बज उठा। महाराणा राजसिंहजी किशनगढ़ की राजकुमारी का पत्र पाकर ५०० वीर सरदारों के साथ औरंगजेब के कलुषित हाथों से उसका उद्धार करने के लिये निकल पड़े थे। रतनसिंह की नई पत्नी के टटके सुहाग पर आँच न आए, यह सोचकर उन्होंने सलूंबरा के राव को युद्ध का निमंत्रण नहीं दिया। राणाजी की सेना रातोरात धावे मारती बादशाह के लश्कर पर जा टूटी। पौ नहीं फटी थी। खेमों में पड़े मुसलमान रात के खाए बकरे पचा रहे और खुर्राटे भर रहे थे। राजपूतों की तलवारों की झन्नाहट से उनकी आँखें खुल गईं, और वे सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए। हड़बोंग में राणाजी ने राजकन्या चारुमती को अपने घोड़े पर सवार कराके उसके हाथ में तलवार दे दी। स्वयं मुग़ल-सेना के एक घोड़े पर सवार हो वह भी उसके साथ ही मुसलमानों पर टूट पड़े, और मुग़ल-सेना को चीरते हुए चित्तौड़ की ओर बढ़ चले। मुग़लों की यह टुकड़ी दिलावरख़ाँ के नेतृत्व में किसनगढ़ से चारुमती का अपहरण करके लौट रही थी।

राणाजी के आक्रमण की सूचना औरंगजेब को मिली थी। वह अजमेर से धावे मारता चला आ रहा था। अकस्मात् राणाजी

और उनकी छोटी टुकड़ी लौटते समय स्वयं औरंगजेब के हरावल के सामने जा पड़ी। शाही सेना का घेरा क्षण-प्रतिक्षण राणाजी के चारों ओर दृढ़ होने लगा। राजसिंह की तलवार बिजली की तरह चमक उठी। चारुमती का खड्ग भी रणचंडी का अस्त्र बन गया। तो भी विजय पाना असंभव-सा ही लगने लगा।

इधर रतनसिंह अपनी चंद्रवदनी प्रिया के स्नेह-पाश से नित्य-कर्म के लिये अवकाश पाकर जब प्रातःकाल रंगमहल से बाहर निकला, तो उसे चारण श्यामलदास से राणाजी की रण-यात्रा का समाचार मिला। चित्तौड़ की तलवार चूडावत के बिना रण में चली जा रही है, यह सुनकर उसे बड़ी लज्जा मालूम हुई। तुरंत उसने सलूंबरा के सरदारों को तैयार होने के लिये रण-भेरी बजाए जाने की आज्ञा दी, और स्वयं भी कवच और खड्ग धारण करके नई हाड़ी रानी के शयन-कक्ष के द्वार पर जब वह पहुँचा, तो अलसाए रतनारे नयन, मुक्त कबरीबंध, क्षत-विक्षत अधरोष्ठ और अलक्तक-रंजित पलँग को देख उसका मन कायर हो उठा। एक ओर राणा का जीवन संकट में था—देश की स्वतंत्रता खतरे में थी, दूसरी ओर नई पत्नी का सुहाग, यौवन का मदिर उपभोग, गृहस्थी का सुख लुट सकता था। उसके चित्त में दुविधा हो उठी। रानी ने पति की युद्ध-सज्जा और उसके मुख पर भावों के उतार-चढ़ाव को लक्ष्य किया।

शय्या से उठकर उसने पति की चरण-वंदना की, और उन्हें ठहरने के लिये कहकर क्षण-भर में एक थाल में तिलक की सामग्री और रण-कंकण लेकर उपस्थित हुई। रतनसिंह ने पत्नी

को बाहु-पाश में कस लिया, किंतु राजपूतनी छिटककर अलग खड़ी हो गई, और रण-कंकण पति की भुजा में बाँधते हुए बोली—"नाथ, विजय करके लौटोगे, तो फिर दर्शन पाऊँगी, अन्यथा संग-संग ही हमारी स्वर्ग-यात्रा चिता पर होगी। प्रेम के आगे कर्तव्य को भूलना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। आपकी रानी आपके कुल-धर्म का पालन जानती है। निश्चित होकर रण में जाइए।" और उसने पति की कमर में ख़ंजर, फेंटा बाँध दिया। पत्नी के माथे पर प्रेम-चिह्न अंकित करके रतनसिंह भारी हृदय लिए नीचे उतर गया। घोड़े पर बैठकर जैसे ही वह चला, झरोखे में उदय हुए चंद्र-वदन को उसने फिर एक बार देखा। रानी की हसरत-भरी जवानी उसके नेत्रों के सामने आ खड़ी हुई। घोड़े की बाग खिंच गई, और चूड़ावत सोच में पड़ गया। वह फाटक की ओर मुड़ ही रहा था कि रनिवासों का ख़ास ख़वास रक्त-रंजित रेशमी दुपट्टे में बँधी कोई वस्तु और एक पत्र लिए आता दिखाई दिया। पत्र में लिखा था—

> **सूरा, रण में जायके लोहा करो निसंक ;**
> **ना चढ़े मोय रड़ापणा, ना लागे तोय कलंक।**

सौंदर्य के मोही, अब जा, निश्शंक युद्ध कर। मैं अब विधवा होने के कलंक से रहित हो चुकी, और तू कर्तव्य-विमुखता के कलंक से। दुपट्टे में बँधा उसकी नवेली दुल्हन का चंद्र-वदन था, जिसे उसने स्वयं काटकर भेजा था।

रतनसिंह ने प्रिया के सुंदर केश-कलाप को यज्ञोपवीत की तरह गले में धारण किया। रानी का कटा हुआ सिर उसके

विशाल वक्ष पर हृदय के निकट झूलने लगा। उसने तलवार सूत ली. और कराल-काल की-सी तीव्र गति से वह रूपनगर की ओर बढ़ चला। दो हज़ार राजपूतों की वह टोली क्षण-भर में बादशाह की सेना के सिर पर जा पहुँची।

'हर-हर महादेव' की ललकार से मुग़ल चौंके, राणाजी को बल मिला। चूड़ावत की तलवार ने सीधा मार्ग बनाकर औरंग-जेब के हाथी पर चोट की। बादशाह धूल चाटने लगा, और घोड़े पर चढ़कर भाग गया। रत्नसिंह अड़ गए, और राणाजी को सुरक्षित चित्तौड़ रवाना करके अपने साथियों-सहित युद्ध में काम आए। प्रेम ने कर्तव्य के और कर्तव्य ने प्रेम के कठिन पंथ को सुगम बनाकर इतिहास को सदा के लिये सजीव बना दिया।

प्राणों की बाज़ी

हिंदू-कुल-सूर्य महाराणा प्रताप ने अपनी मृत्यु-शय्या पर मेवाड़ के सरदारों से प्रतिज्ञा ले ली थी कि वे उनके पुत्र महाराणा अमरसिंह को मुग़लों की अधीनता स्वीकार न करने देंगे। १९ जनवरी, सन् १५९७ को महाराणा अमरसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। मुग़लों से कई वर्ष तक महाराणा लोहा लेते रहे, किंतु मुसलमानों ने बहुत-से स्थानों पर अधिकार कर लिया। महाराणा ने निराश होकर संधि करने का इरादा किया। उधर मुग़ल-सेना बढ़ी चली आ रही थी। चूड़ावत, शक्तावत और झाला सरदारों ने उदास और निराश महाराणा के हाथ में प्रण-वीर प्रताप की तलवार ज़बर्दस्ती पकड़ा दी, और उनके शरीर पर कवच धारण करा दिया। राणा की बाहें पकड़कर खींचते हुए ले जाकर उन्होंने उन्हें घोड़े पर सवार कराया। यद्यपि महाराणा की आँखों से ग़ुस्से और बेबसी के आँसू बह रहे थे, किंतु स्वाभिमानी, स्वतंत्रता-प्रिय वीर सरदारों की इच्छा के विरुद्ध मातृ-भूमि को ग़ुलाम बना देने की उन्हें हिम्मत नहीं हो रही थी। रण-भूमि में पहुँचकर और जीर्ण-शीर्ण, थके हुए राजपूतों के उत्साह और शौर्य को देखकर राणा का पैतृक तेज जाग उठा, और उन्होंने अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। मुग़लों के उस दिन छक्के छूट गए। राणा ने कर्तव्य-विमुखता की क्षण-स्थायिनी ग़लती के लिये सरदारों से क्षमा माँगी।

धीरे-धीरे विजया दशमी आ पहुँची। सरदारों में होड़ लग उठी कि इस साल अहेरिया किस वन में होगा। महाराणा से पूछा जाता, तो वह मुस्किरा देते। अहेरिया उस बड़े और साहस-पूर्ण शिकार का नाम था, जो सब सरदार और महाराणा मिलकर नवरात्र के उत्सव के उपलक्ष्य में मनाते थे। उस दिन सर्वोत्तम शौर्य प्रदर्शन के लिये महाराणा की ओर से विशेष सम्मान का उपहार मेवाड़ के सर्वश्रेष्ठ वीर को दिया जाता था।

भरे दरबार में, उत्सुक राजपूतों ने, महाराणा का निर्णय सुना, और वे उत्साह से उछल पड़े। महाराणा ने कहा—"मेरे वीर साथियो, माँ दुर्गा इस वर्ष जंगली पशुओं की बलि नहीं चाहतीं। इस वर्ष वह नई मुंड-माल से अपने को विभूषित और म्लेच्छ-रक्त से भरा खप्पर देखना चाहती हैं। 'अहेरिया' इस बार उंटाला के दुर्ग पर होगा, जो मुग़लों के हाथ में रहकर हमारी मातृ-भूमि के हृदय में भुंके हुए खंजर की तरह सदा कसकता रहता है। आपमें से जो भी इस वर्ष के नवरात्र का दशमी पूजन करना चाहें, वे उंटाला-विजय के लिये तैयार हो जायँ। कल मैं स्वयं सेना का नेतृत्व करूँगा, जो उंटाला में पहले प्रवेश करेगा, मेवाड़ के राजवंश को तिलक करने का अधिकार उसे मिलेगा।

चूड़ावत सरदार जैतसिंह ने कहा—"महाराज, आपके जाने की क्या आवश्यकता है। मैं और मेरे साथी उंटाला जीतकर इस बार माँ दुर्गा की इच्छा पूरी करेंगे।"

बल्लूजी शक्तावत कड़ककर बोला—"उंटाला शक्तावतों

का खिलौना है। क्षण-भर में उसे जीतकर हम महाराज के चरणों पर चढ़ाएँगे।"

होड़ लग उठी। राजपूत दो टोलियों में बंटकर चढ़ दौड़े। शकतावतों के तेज़ घोड़े आगे बढ़ गए, और उंटाला के फाटक पर विजया दशमी का सवेरा होने से पहले ही जा पहुँचे। द्वार बंद था। प्रहरी और रक्षक ऊपर से गोलियाँ चलाने लगे, फिर भी राजपूत पीछे न हटे।

द्वार पर शकतावतों को पहुँचा देख चूड़ावत सरदार जैतसिंह क़िले की दीवार पर चढ़कर अंदर पहुँचने का प्रयत्न करने लगा। सीढ़ी बनाई गई, और स्वयं जैतसिंह सबसे आगे बढ़ा। वह किसी प्रकार भी दुर्ग में पहले पहुँचना चाहता था।

दूसरी ओर बल्लूजी फाटक तोड़कर पहले अंदर घुसना चाहता था। कुल्हाड़ियों से दरवाज़ा न टूटा, तो उसे हाथी की टक्कर से तुड़वाने का उसने यत्न किया। किंतु कीलों के डर से हाथी आगे न बढ़ा। ढाल लगाने पर भी उसने जब जगह थोड़ी होने के कारण टक्कर न मारी, तो बल्लूजी स्वयं कील पकड़कर लटक गया, और महावत से हाथी ठेलने को कहा, जिससे दरवाज़ा टूटने पर सबसे पहले उसका शरीर क़िले में प्रवेश पा सके तथा उंटाला-विजय का यश उसे प्राप्त हो सके।

सीढ़ी के अंतिम डंडे पर जैतसिंह पहुँच चुका था कि एक गोली क़िले में से चलकर उसके गले में लगी, और वह सीढ़ी से नीचे गिर पड़ा। बचने की आशा कम थी। बोला—"तुरंत मेरा सिर काट क़िले में डाल दो, और उसके पीछे ही अंदर

कूद पड़ो । शकतावतों से पहले हमें दुर्ग में पहुँचना है । जल्दी करो, सोचते क्या हो ?" और उस होड़ में जैतसिंह का सिर लिए हुए उसके साथी ज्यों ही क़िले में कूदे, त्यों ही हाथी के ठेल से दरवाज़ा भी टूट गया, और 'हर-हर महादेव' के विजय-घोष के साथ शक्तिसिंह (महाराणा प्रताप के भाई) के २१ लड़के बड़े भाई बल्लूजी की मृत देह के साथ क़िले में घुस पड़े ।

उंटाला क्षण-भर में विजय कर लिया गया । विजया दशमी की शक्ति-पूजा के उपलक्ष्य में राजपूतों ने भयानक बलिदान देकर रण-चंडी की इच्छा पूरी की, और मातृभूमि को स्वतंत्र किया ।

इस युग का लक्ष्मण

ओरछा में फूलबाग से लगा हुआ एक चौक है, जिसमें चारो ओर हौज और फ़व्वारे बने हुए हैं। बीचोबीच में हरदौल की भग्नप्राय बैठक है। 'हरदौल' अर्थात् दीवान हरदेवसिंह महाराज जुझारसिंह के छोटे भाई थे। आदर्श देवर लक्ष्मण के समान ही हरदौल भी अपनी भाभी का माता के समान आदर करते थे। मुग़ल-दरबार में अधिकतर रहनेवाले महाराज जुझारसिंह के कानों तक दुर्जन-भणिति पहुँची कि देवर-भाभी का प्रेम कलुषित है। संदेह-भरे राजा अकस्मात् ओरछा आ पहुँचे। महारानी को आज्ञा हुई, यदि सती हो, तो हरदौल को भोजन में विष दो। धर्म-संकट में पड़कर रानी को स्वीकार करना पड़ा।

प्रतिदिन के समान मातृस्वरूपा भाभी के हाथ से भोजन पाते समय हरदौल ने उनकी आँसू-भरी आँखें देखकर कारण पूछा। रानी ने रो-रोकर अपनी विवशता वर्णन की। भाभी के सतीत्व की परीक्षा थी। हरदौल ने सहर्ष यह कहकर कि—"मा, तेरे हाथ का यह भोजन मेरे लिये अमृत है। तेरे लिये मृत्यु का आलिंगन करके भी मैं अमर हो जाऊँगा।"—वह विषाक्त भोजन पा लिया।

भोजन करके हरदौल कुलदेवता रघुनाथजी के अंतिम

दर्शन करने गया, और लौटकर इसी बैठक में भाभी का चरण-स्पर्श करता हुआ अमर हो गया। विष ने हरदौल को सचमुच अमर कर दिया। बुंदेलखंड का बच्चा-बच्चा आज तक हरदौल की पूजा करता है। गाँव-गाँव में उसका चबूतरा बना हुआ है, जहाँ प्रत्येक शुभ-अशुभ अवसर पर लाला हरदौल के चरणों में आबाल-वृद्ध-वनिता नत-मस्तक हुआ करते हैं।

हरदौल के आत्मबलिदान के समय ओरछा-नरेश जुझारसिंह की रानी, हरदौल की भाभी के कुछ दिन का गर्भ था। उसके सतीत्व की रक्षा के लिये हरदौल ने जिस वीरता और हठ-पूर्वक प्राण दिए, उसका वह पुत्र-तुल्य स्नेह और उसकी लोकोत्तर वीरता भाभी को क्षण-भर भी न भूलती थी। प्रतिक्षण, प्रतिपल हरदौल की महाप्राणता ही उसके मानस-चक्षुओं के सामने रहा करती। ९ महीने बाद उदयभान का जन्म हुआ। ओरछा के लोग कहते थे कि हरदौल ने ही अवतार लिया है। उस समय जुझारसिंह का भाग्य-नक्षत्र मध्य आकाश में था। परंतु गर्व, क्रूरता, हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या और लोभ, जो धन और ऐश्वर्य के आवश्यक सहगामी हैं, उनकी वीरता को कुंठित कर चुके थे।

१६ वर्ष निकल चुके थे कि शाहजहाँ की नजर टेढ़ी हुई। स्वयं सदा के जलकुक्कड़ बुंदेले राजा और रईस ओरछा के विरुद्ध मुसलमानों की सेना में भर्ती होकर आए और सिंह के भोजन के समय उपस्थित शृगालों की तरह बची-खुची बोटियों, ओरछा के टुकड़ों की याचना में दुम हिलाने लगे।

महापराक्रमी वीरसिंहदेव के पुत्र जुझारसिंह ने पिता की

तलवार में कायरता का मोरचा कभी नहीं लगने दिया था। इस बार भी वह लड़ा, वर्षों लड़ा, पर उसके हरदौल-हत्या के पाप और स्वाभाविक दुर्गुण उसके आड़े आए। राज्य छिना तथा युवराज विक्रमाजीत, वह स्वयं और हजारों बुंदेले बड़ी क्रूरता-पूर्वक जंगलों में जानवरों की मौत मारे गए। उसके दो लड़के और एक पौत्र, जो बहुत छोटे बच्चे थे, बसीव बादशाह द्वारा मुसलमान बना लिए गए। पृथ्वीराज, एक दूसरा पुत्र, ग्वालियर में क़ैद कर दिया गया, और ओरछा का विशाल चतुर्भुज मंदिर बादशाह शाहजहाँ ने खुद खड़े होकर नष्ट-भ्रष्ट करवाया। ओरछा में इस्लाम घुस बैठा। खुद जुझारसिंह का भाई पहाड़सिंह और चंदेरी का देवीसिंह इस सत्यानाश के जन्म-दाता थे।

उदयभान उन दिनों गोलकुंडा की लड़ाई पर चाचा के साथ था। उसकी तलवार के जौहर देखकर लोग हरदौल की याद करते थे। बुंदेले उसके तेजस्वी चेहरे, सौम्य स्वभाव और अदम्य साहस के कारण उस पर जान देते थे। वह हरदौल के सभी गुणों की प्रतिमूर्ति-सा लगता था। श्याम दौआ के साथ वह जब लड़ाई में तलवार चलाता, तो गोलकुंडा की फ़ौज में भग-दड़ पड़ जाती। बिजली की तरह चमकती हुई उसकी निर्भय तलवार रण-क्षेत्र के एक कोने से दूसरे तक कौंधती-सी दिखाई देती थी।

सन् १६३६ के जाड़ों के एक दिन सवेरे जब उदयभान और श्याम दौआ सो रहे थे, कुतुबुल्मुल्क ने शाहजहाँ को प्रसन्न

करने के लिये सैकड़ों मुसलमान सिपाहियों के साथ आकर उन्हें गोलकुंडा-छावनी में गिरफ्तार कर लिया, और बादशाह के सामने पेश करने के लिये जतारा भेज दिया।

उदयभान और श्याम दौआ शाहजहाँ के सामने प्रस्तुत हुए। १६ वर्ष के सुंदर, वीर युवक उदयभान की निर्भीक और तेजस्विनी मुद्रा देखकर शाहजहाँ बड़ा प्रभावित हुआ। उसकी और श्याम दौआ की वीरता की कथा भी उसके कानों तक पहुँच चुकी थी, किंतु वह ओरछे में दूसरा वीरसिंहदेव पैदा नहीं होने देना चाहता था। इसलिये उसने उदयभान और श्याम दौआ को इसलाम और मौत में से एक चुन लेने के लिये एक महीने का समय दिया, और दोनो को ग्वालियर के क़िले में क़ैद कर दिया।

श्याम दौआ कुछ अधिक आयु का था। दुनिया देख चुका था। कभी-कभी डगमगा जाता, किंतु उदयभान मानो अटल कैलास हो—ऐसा दृढ़ था। सदा 'रघुनाथ' का स्मरण करता, प्रातः सायं व्यायाम करता और प्रसन्न रहता। चाचा हरदौल की वीरता के बखान वह मा के मुँह से सुन चुका था। उनके बलिदान के समय की-सी ही दृढ़ता उसने भी अपने हृदय में धारण कर रक्खी थी। अडिग, अचल और निर्लेप, निर्भय उसकी आत्मा त्याग और धर्म के तत्त्व को मा के गर्भ में ही, हरदौल के आत्मोत्सर्ग के समय, जान चुकी थी, और धर्म-पथ से तिल-मात्र भी हटने को वह प्रस्तुत न था। क़ाज़ी रोज़ आता। मुग़ल-ऐश्वर्य, मुस्लिम-सुंदरी और मनसबों के सुख-स्वप्न उसके सामने रखता। मृत्यु की विभीषिकाओं—विशेषतः मुसलमानों

द्वारा आविष्कृत मौत के शैतानी तरीक़ों---के रोमांचकारी बीभत्स वर्णन उसे सुनाता, पर उदयभान था निर्लेप, निर्विकार, निरंजन परब्रह्म की गोद में बैठकर एक ही उत्तर देता—"मौलवी साहब, ईश्वर की गोद उसी तरह रोज़-रोज़ नहीं बदली जा सकती, जैसे बाप की गोद कभी नहीं बदली जा सकती।"

और तंग आकर एक महीने बाद शाहजहाँ ने हुक्म दिया—"जब दोनों काफ़िर खुदा का सिजदा नहीं मंजूर करते, तो उन्हें शैतान के हवाले किया जाय।"

बालक उदयभान को हाथ-पाँव बाँधकर हाथी के सामने डाल दिया गया, और इससे पहले कि हाथी का पाँव उसके छोटे-से शरीर को रौंद डाले, फिर एक बार शाहजहाँ ने उससे इस्लाम को स्वीकार करने के लिये कहा, परंतु हरदौल के अवतार उदयभान का एक ही उत्तर था—"रघुनाथजी महाराज के सिवा मैं और किसी की गोद में नहीं जाना चाहता।"

क्षण-भर में उस धर्मवीर उदयभान को हाथी के निर्भय पैरों ने रौंद डाला। उसकी अंतिम साँस से भी निकल रहा था—"रघुपति राघव राजाराम।"

कहते हैं, जतारा के विशाल मदनसागर की उत्ताल तरंगें रात के सुनसान में आज भी वीर उदयभान की अंतिम साँस 'रघुपति राघव राजाराम' की सिसकारी भरा करती हैं।

*

"चंदा, तंग न कर। इतना बड़ा हुआ, पर अभी तेरा लड़कपन न गया। क्यों अड़ा है तू आज दरबार में जाने को?" चंपतराय बोले।

"भैया, महाराज पहाड़सिंह के दर्शनों की अभिलाषा कितने दिनों से लगाए हूँ। दाउजू, महाराज वीरसिंहदेव के साथ वह एक बार महोबा आए थे, तब मैंने उन्हें देखा था। सुनता हूँ, अब वह एक शक्तिशाली नरेश हैं, और बुंदेलों के नेता। आप देश को मुग़लों के दासत्व से छुड़ाकर स्वतंत्र कराने का व्रत ले चुके हैं, और अपना सर्वस्व देकर भी आज विंध्यभूमि के घर-घर के प्यारे सरदार हैं। ऐसे दो महान् व्यक्तियों का मिलन मेरे लिये भाग्यशाली दृश्य होगा। मुझे साथ ले चलिए। जस मनाऊँगा मेरे भैया।"

और रसीला युवक राजकुमार चंद्रभान, अन्य साथी सरदारों के साथ, ओरछा-नरेश महाराज पहाड़सिंह के मित्र राव रतनसिंह के विवाह-भोज-संबंधी दरबार में सम्मिलित होने के लिये वीर भाई चंपतराय के साथ, ओरछा के अभिषेक-भवन की ओर चला। रास्ते में उसकी पहचान के अनेकों बुंदेले युवक रंग-बिरंगे सेलों, मख़मली अँगरखों और रत्न-जटित आभूषणों से सुशोभित उसी ओर जाते मिले। क़िले के द्वार में घुसकर

दाहनी ओर नदी-तट को जानेवाली परिखा-प्राचीर ने उन लड़कों को आकृष्ट किया। खेलते-कूदते वे किशोर युवक बेतवा की शोभा देखने में ऐसे डूबे कि दरबार का समय हो आया। लड़कों में प्रधान वंश का किशोरी भी था। अपने साथी युवकों से बोला—"दरबार में आज कुछ दुर्घटना होनेवाली है, क्योंकि महाराज ने मंजू वैद्य को बुलाकर महाराज चंपतराय के लिये विशेष मधुपान तैयार करने को कहा है। महलों से आते समय मैंने वह बात सुनी है। चलो, समय हो गया, चलें।"

युवकों के साथ ही गंभीर मुद्रावाला चंद्रभान भी अभिषेक-भवन में घुसा। हँसोड़ और चुलबुले चंद्रभान को उदास और गंभीर देखकर चंपतराय का हृदय उमड़ आया। "क्या किसी से लड़ बैठा चंद्रा ?" उन्होंने पूछा। बिना कुछ बोले चंद्रभान भाई के पास आ बैठा। उत्तर में केवल सिर हिला दिया। पीठ पर चंपतराय का हाथ प्यार से फिरते ही उसकी आँखें भर आईं। महाराज चंपतराय ने उसका यह भावावेश न देख पाया। पहाड़सिंह की बातों में वह उलझ चुके थे।

बुंदेली-प्रथा के अनुसार भोज से पहले मधु-पात्र लाया गया। सुनहरे चषक में शीधु मैरेय और माधवी का शीतल-सुगंध पेय देश के सर्वमान्य नेता वीरवर चंपतराय को सबसे पहले दिए जाने का आदेश महाराज पहाड़सिंह ने दिया। चंपतराय आदर-पूर्वक उसे लेने को ज्यों ही आगे झुके कि बिजली की तरह तड़पकर चंद्रभान उनके और मधु-पात्र के बीच खड़ा हो गया। दोनों हाथों से उसने दृढ़ता-पूर्वक मधु-पात्र पकड़ लिया, और

बोला—"भैया, मुझे बड़ी प्यास लगी है," और एक साँस में उसने वह प्याला खाली कर दिया।

पहाड़सिंह की आँखें फटी-सी रह गईं। उसके मुँह से बात न निकली। उद्धत चंद्रभान फिर खड़ा हो गया, बोला—"भैया, मुझे नींद लगी है, मैं डेरे में जा रहा हूँ। जल्दी आना।" और देखते-ही-देखते वह अभिषेक-भवन से बाहर हो गया।

चंपतराय ने भाई के अल्हड़पन के लिये पहाड़सिंह से क्षमा माँगी, और उन्हीं के हाथ का प्याला लेकर आदर-पूर्वक पी लिया। बुंदेलों के स्वातंत्र्य-संगठन की योजनाओं पर अभी वे दोनो विचार कर ही रहे थे कि जगन भाट चंपतराय के डेरे से घबराया हुआ आया। बोला—"महाराज, रावसाहब को जाने क्या हो गया है! जल्दी चलिए।"

डेरे पहुँचकर चंपतराय ने देखा, चंद्रभान अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था। उनके पहुँचते ही उस वीर अल्हड़ भाई ने दोनो हाथ बढ़ाकर उनके चरण पकड़ लिए। बोला—"भैया, अब आप ओरछा में एक क्षण भी न रुकें। पहाड़सिंह ने द्वेष-वश आपको कई बार मारने की चेष्टा की थी, परंतु आप अपनी उदारता के कारण यह विश्वास ही न करते थे कि बुंदेला कभी बुंदेले से विश्वासघात करेगा। आज किशोरी प्रधान से यह सुनकर कि आपके लिये विष का मधु-पात्र तैयार किया गया है, मैंने उसे पी लिया कि देश की स्वतंत्रता के रक्षक को आँच न आने पाए। बात फूट जाने से बुंदेलों में फूट पड़ जाने का डर था, जिससे देश के स्वातंत्र्य युद्ध को हानि पहुँचती, और आप दोनो

मैं भी वैर हो जाता। मुझे गर्व है, मैं आप-जैसे महान् भाई की और भारत-मा की थोड़ी-सी सेवा कर सका। भगवान् करे, आप युग-युग जिएँ।" यह कहकर चंद्रभान ने दम तोड़ दिया। विष के प्रभाव से तेजस्वी चंद्रभान काला पड़ गया था। वह शोक-विह्वल चंपतराय की गोद में आत्मोत्सर्ग और वात्सल्य की मूर्ति बना पड़ा था।

बंदा वीर की स्वर्ग-यात्रा

महावीर, सच्चा त्यागी, रण-योद्धा और तपस्वी पंजाबी बंदा बैरागी लोहे की जंजीरों से जकड़ा हुआ दिल्ली लाया गया। उसके साथ सात सौ चालीस साथी और थे, जिन्होंने सुख-दुख में, गर्मी-सर्दी में, हार-जीत में उसका साथ दिया था। वे साधारण मनुष्य न थे। सब-के-सब भारत-माता के लाल थे, जो बंदा बैरागी के साथ गिरफ्तार करके लाए गए थे। सबको काली भेड़ों की खालें पहनाई गईं, और गधों पर सवार कराया गया। बैरागी का मुँह काला करके नगर के सभी गली-कूचों में फिराया गया।

क़ाज़ियों के सम्मुख सैनिकों-समेत बैरागी को पेश किया गया। उन्होंने अपने नियम और धर्मशास्त्र के अनुसार पहली शर्त पेश की कि तुम्हें प्राण-दान दिया जा सकता है, यदि इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लो। बैरागी ने इस प्रस्ताव पर घृणा प्रकट करते हुए कहा—"प्राण-हरण करना या दान करना तुम्हारे हाथ में नहीं। कब तक तुम हमें जीवन-दान कर सकते हो?" सबके वध की आज्ञा सुनाई गई। दंड को सुनकर ये वीर प्रफुल्लित दिखाई देने लगे। नित्यप्रति कोतवाली के सामने एक सौ का वध किया जाता था। जहाँ डरपोक आदमी सदा रो-रोकर मृत्यु-मुख में जाता है, वहाँ साहसी मनुष्य अपना कर्तव्य पूर्ण

करते हुए मौत का सामना हँसते-हँसते करता है। अपने धर्म की रक्षा का पुरस्कार पाकर वह फूला नहीं समाता।

आठवें दिन बैरागी की बारी आई। दरबारी उसे देखने के लिये आए। उनमें से एक अमीर मुहम्मदअली ने बैरागी से प्रश्न किया—"तुम्हारे-जैसे श्रीमान् पुरुष ने क्यों ऐसे बुरे काम किए, जिनके लिये तुम्हारी ऐसी दुर्दशा हो रही है ?"

बैरागी ने उत्तर दिया—"मैं तो प्रजा-पीड़कों को दंड देने के लिये ईश्वर के हाथ में शस्त्र था। क्या तुमने सुना है कि जब संसार में गर्व मर्यादा से बढ़ जाता है, और ईश्वर की प्रजा तंग आ जाती है, तो मुझ-जैसे दुष्टों का संहार करनेवाला जन्म लेता है।"

बादशाह ने बैरागी से पूछा—"तुम कैसी मौत मरना चाहते हो ?"

बैरागी ने गंभीरता से उत्तर दिया—"जैसे तुम्हारी इच्छा हो, मारो ! मेरे लिये सब तरह की मौत एक समान है। मैं तो इस शरीर को ही सब दुःखों का मूल समझता हूँ।"

बैरागी के चारो ओर भालों की पंक्तियाँ खड़ी की गईं, जिन पर उसके साथियों के सिर टँगे थे। एक भाले पर उसकी प्यारी बिल्ली का कटा हुआ सिर लटक रहा था। बैरागी का छोटा-सा बालक इसकी जाँघों पर बैठाया गया। बादशाह ने छुरा देकर आज्ञा दी—"अपने हाथों से बालक का वध करो !" बैरागी ने जब इससे इनकार किया, तो जल्लाद ने बैरागी के देखते-देखते बालक के दो टुकड़े कर दिए, और लोहू-भरे कलेजे

को बैरागी की छाती पर दे मारा। फिर लोहे की गर्म सलाखों से बैरागी को रह-रहकर मारना आरंभ किया गया। तपे हुए लाल चिमटों से खींच-खींचकर उसके लोथड़े बाहर निकाल दिए गए, यहाँ तक कि शरीर की हड्डियाँ दिखाई देने लगीं। मरते दम तक उसे महान् गर्व था कि उसने अत्याचार के वृक्ष की जड़ों को उखाड़ दिया। वह वृक्ष कभी न फूले-फलेगा। उसके मुख पर खेद का कोई चिह्न न था। न उसके मुँह से आह ही निकली। जब बैरागी की बोटियाँ उतर रही थीं, वह जनक की तरह विदेह बैठा हुआ था। नजीबुद्दौला ने उससे पूछा—"इतने कष्ट मिलने पर भी प्रसन्न कैसे हो?" बैरागी ने उत्तर दिया—"जिसे आत्मा का ज्ञान है, वह जानता है कि आत्मा दुःखातीत है।" कहते हैं, इतने कष्ट देने के बाद भी बैरागी को हाथी के पाँव-तले रौंदवाकर मार डाला गया। उसका मृतक शरीर एक गड्ढे में फेंक दिया गया। कितने दुःख की बात है कि हिंदू-जाति ने ऐसे शूर, देश-भक्त की याद ही भुला दी। आज हिंदू-बच्चों के हृदय-मंदिरों में राम और कृष्ण की तरह बैरागी का नाम नहीं चलता। जाति के लिये इससे बढ़कर दूसरा घोर और अक्षम्य पाप नहीं हो सकता।

★

कर्तव्य-निष्ठा ही अनुशासन की जान है।

प्रसिद्ध भारतीय सेनापति हरिसिंह नलवा की सेना के काबुल-आक्रमण के समय हेमचंद्र-नामक एक वीर हिंदू सैनिक खैबर की रक्षा पर रात में नियुक्त था। हिंदूकुश के इस पार सिख स्कंधावार की गति-विधि लेने के लिये आनेवाले पठान गुप्तचरों पर कड़ा नियंत्रण रखने को स्वयं हरिसिंह ने कठोर आज्ञा दी थी कि रात में कोई भी उस मार्ग से न जाने पाए।

स्वयं सेनापति उस रात उस मार्ग से आए। पिछले पहरे-वाले ने उन्हें निकल जाने दिया, किंतु हेमचंद्र ने बंदूक उठाकर उन्हें आगे बढ़ने से रोका। नलवा ने कई प्रकार से हेमचंद्र को प्रलोभित, भयभीत और प्रभावित करना चाहा, परंतु नियंत्रण का पक्का सैनिक टस से मस न हुआ। अंत में हरिसिंह ने कहा— "मैं स्वयं सेनापति हूँ। क्या मुझे भी न जाने दोगे?"

"नहीं महाशय, जब तक मैं पहरे पर हूं, कोई भी इस मार्ग से न जा सकेगा। सेनापति की आज्ञा में फेरफार रात में असं-भव है। आप जो कोई भी हों, प्रातःकाल ही जा सकेंगे।" सेना-पति हरिसिंह अपने सैनिक की निष्ठा और नियंत्रण से प्रभावित होकर वापस लौट गया, और सवेरे ही हेमचंद्र मुलतान का शासक बना दिया गया।

हमारे देश और समाज को ऐसे ही सेवकों की आवश्यकता है, न कि उनकी, जो चवन्नी पाकर ही आज्ञा-पालन भूल जाते हैं।

★

महामानव एकनाथ

संत एकनाथ और उनके साथी गंगोत्तरी का पवित्र जल लेने के लिये बरफ़ीली चोटियाँ पार करते धीरे-धीरे गंगाजी के स्रोत की ओर बढ़े। बरफ़ से ढके ऊँचे पहाड़ उनका रास्ता रोके खड़े थे। संत एकनाथ गाती गहने, खँजड़ी लिए, कनटोप चढ़ाए सबसे आगे चल रहे थे। फिसलन-भरी बरफ़ीली चढ़ाई आते ही वह खँजड़ी पर ईश्वर का गुण गाते और भी तेजी से चढ़ने लगते और उनके साथी संगीत और भक्ति में ऐसे खो जाते कि कब उन्होंने रास्ते की झाड़ियाँ पकड़ीं, वृक्षों की जड़ों का सहारा लिया, चट्टानों का आसरा लिया और कब चोटी पर जा पहुँचे, यह उन्हें पता ही न चलता। तुरंत यह मंडली मंज़िल पर जा पहुँचती। ऊपर पहुँचकर ज्यों ही हरे-हरे सीकों-जैसी लंबी-पतली नोकीली पत्तियों से लदे हरे-भरे और सुगंध से महकते देवदार के वृक्षों के मनोहर वनों, अलखनंदा के शीतल शीकरों और हिमशीतल शिलातलों को छूकर आनेवाला मंद पवन उनके थके अंगों को स्पर्श करता, तो उनकी थकावट क्षण-भर में दूर हो जाती। वहाँ से दिखाई पड़नेवाली हिमालय की चोटियाँ ऐसी लगतीं, मानो बरफ़ की चमकीली सफ़ेद चादर में किसी ने सुनहरी गोट लगा दी हो। सूरज की किरणें उन चोटियों पर सुनहरी और रंग-बिरंगी आभायें बिखेरती रहतीं।

इतने ऊँचे पहाड़ पर पहुँचकर, उससे कई गुना ऊँचे शिखर पर ईश्वर की लीला के इस महान् सौंदर्य को देखकर एकनाथ का दिल नाच उठता। वह हिमालय-जैसे पहाड़, सब संसार और सभी जीव-जंतुओं तथा मनुष्यों के बनानेवाले, सबके पिता परमात्मा को याद करने लगते।

धीरे-धीरे यह मंडली गंगा-नदी के उद्गम तक जा पहुंची। देखा, एक बहुत बड़ी बरफ़ की चट्टान पहाड़ की तरह खड़ी है, और सूर्य के प्रखर प्रकाश से बरफ़ गल-गलकर, निर्मल जल-धारा बनकर बह रही है। इस हिमानी के बीच में एक छोटी-सी गुफ़ा में बनी बरफ़ की गोमुखी में से गंगा का पवित्र जल बाहर आ रहा है। बाबा एकनाथ इतनी बड़ी गंगा के इतने छोटे से आदिरूप को देखकर ईश्वर की उस अपरंपार महिमा को याद करने लगे, जिसने इतने छोटे से मनुष्य को हिमालय की अगम चोटियाँ लाँघने की शक्ति दी, और इतनी छोटी-सी जल-धारा को भारत की माता भगवती गंगा बना दिया, जिसकी कृपा से सारा उत्तर-भारत पेट भरता और जीता है, जिसके जल से भारत-भूमि शस्य-श्यामला कहलाती है।

इतनी मेहनत और कठिनाई उठाकर इस मंडली ने अंत में गंगा के पवित्र आदि जल से गंगाजलियाँ भर लीं, और वे सब दक्षिण के पवित्र सागर तीर्थ रामेश्वर की ओर मुँह करके धुर दक्षिण की तरफ़ चल पड़े। ऊँचे-से-ऊँचे हिमालय की चोटी पर भगवान् की महिमा देखने के बाद उन्हें अब नीचे से नीचे सागर के अतल-तल से उठनेवाली तरंगों में भी उसी परमपिता

की अद्‌भुत लीला देखने की उतावली थी। उनकी तीर्थ-यात्रा का मतलब ही यह था कि चारों दिशाओं में रास्ते के नदी-पहाड़ों में, मनुष्यों और स्त्रियों में, जीव-जंतुओं में सब जगह भगवान् की ही महिमा देखें और कण-कण में व्याप्त उस परमेश्वर को सब जगह मौजूद पाएँ। देश की हरएक चीज में, दुनिया के हरएक जीव में उसी के दर्शन करें।

रामेश्वर भगवान् की महिमा गाती हुई यह मंडली धीरे-धीरे राजस्थान की मरुभूमि में पहुँची। चारों तरफ़ रेत-ही-रेत फैला हुआ था। दूर-दूर तक छाया का नाम न था। सूरज की तेज धूप में भूमि बेतरह तप रही थी। सफ़ेद रेत तेज़ हवा के झकोरों से उड़-उड़कर आसमान में छा रही थी। रेत के बवंडर इन यात्रियों को आगे बढ़ने से रोक रहे थे। गर्मी और धूप से उनका कष्ट बढ़ता जा रहा था। तपी हुई भूमि पर पड़ी श्वेत रेत से प्रतिबिंबित होकर उठती हुई सूर्य की किरणें लपलपाती लपटों-जैसी लग रही थीं, और दूर पर तो ऐसा लगता था, मानो कोई बड़ा तालाब हिलोरें ले रहा हो। एकाएक संत एकनाथ रुक गए। साथी भी आश्चर्य-चकित होकर खड़े हो गए। कहीं से दुःख और पीड़ा-भरी किसी जानवर की आवाज़ उस सुनसान रेगिस्तान में सुनाई पड़ रही थी। एकनाथ की पैनी दृष्टि ने दूर से देखा, मृगमरीचिका के चक्कर में फँसा कोई जीव छलाँगें भरता हुआ दूर तक चला आ रहा है, और पानी न पाकर अब उस गरम रेत में निराश होकर आर्तनाद कर रहा है।

साथियों को जल्दी-जल्दी आने का आदेश देकर संत एक-

नाथ उस आर्त पशु की ओर दौड़े। सब जीवों में परमात्मा के बेटे और अपने भाई का प्रतिबिंब देखनेवाले एकनाथ को ऐसा लगा कि उसकी सहायता करने में ही ईश्वर की सच्ची उपासना है, हरएक जीव की सेवा करने में ही ईश्वर की असली पूजा है।

जाकर देखा, एक गधा बुरी तरह हाँफ रहा था। आँखें उसकी चढ़ी जा रही थीं, दम फूल रहा था। पाँव बार-बार फट-फटा रहा था, और उस आग-सी जलती रेत में वह बुरी तरह तड़प-तड़पकर चिल्ला रहा था। उसकी यह दशा देखकर संत एकनाथ का दिल रो उठा। ईश्वर का वह बंदा—मनुष्य की तरह जीवधारी वह प्राणी—पानी के अभाव में प्यास से मर जाय; और रामेश्वर की पूजा के लिये लाया गया वह पवित्र गंगाजल बचाकर वह उसे वैसे ही मरता छोड़कर चले जायँ? सच्चा, मनुष्य सच्चा ईश्वर-भक्त, ईश्वर की संतान अपने-जैसे एक जीव को ऐसी दशा में छोड़कर कैसे जाय!

तुरंत उन्होंने निश्चय कर लिया कि भगवान् रामेश्वर की प्रतिमा की अपेक्षा ईश्वर की जीती-जागती संतान को उस गंगाजल की ज्यादा जरूरत है। इसलिये उस गधे की प्यास बुझाना ही उस समय सच्ची ईश्वर-पूजा उन्हें लगी, और अपने साथी के हाथ से गंगाजली लेकर उन्होंने उस मुमूर्षु गधे के मुँह से लगा दी। हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों पर चढ़कर इतनी मुसीबतों से लाया गया पवित्र गंगाजल भगवान् के एक क्षुद्र जीव के लिये अमृत बन गया। धीरे-धीरे उसने आँखें खोल दीं, और फिर उठ खड़ा हुआ।

तृप्ति और कृतज्ञता से भरकर उसने एक जोर की चींपों-चींपों की। एकनाथ को ऐसा लगा, मानो वह रामेश्वर के विशाल मंदिर में भगवान् की पूजा का मधुर शंखनाद सुन रहे हों, और उन्होंने देखा, भगवान् का वरद हाथ उन्हें आशीर्वाद दे रहा है।

सब की सेवा में ही ईश्वर की सेवा, दीन-दुखार्तों की सहायता में ही ईश्वर की पूजा अगर सभी का व्रत बन जाय, तो दुनिया में सभी सुखी और सचमुच ईश्वर के भक्त हो जायँ। अपने दुखी पड़ोसी की मदद न करके जो दोनों वक्त घी की चुपड़ी खाकर मंदिर में घंटा बजाने जाता है, वह न तो इंसान ही है, न ईश्वर का भक्त ही।

एक दिन संत एकनाथ के घर श्राद्ध थी। ब्रह्मभोज की सामग्री तैयार थी। उत्तम भोजन की सुगंधि रास्ते में जाते दो महार-जाति के हरिजनों ने सूँघकर कहा—"कैसी अच्छी सुगंध है। सूँघने से ही भूख तृप्त हो जाय। परंतु हम ग़रीबों को यह कहाँ मिल सकती है!"

एकनाथ ने, जो ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे, भूखे दीन जन की बात सुन ली, और उन्हें छककर भोजन कराया, तथा उनके बच्चों के लिये भी साथ में बाँध दिया। ब्राह्मणों के लिये कम न पड़ जाय, इस दृष्टि से उन्होंने और भोजन फिर बनवाया। किंतु जाति के अभिमानी उन ब्राह्मणों ने भोजन न किया, और एकनाथ के इस कार्य की निंदा की। परंतु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब एकनाथ की इस हरिजन-सेवा को उन्होंने देवताओं और पितरों द्वारा सम्मानित होते देखा।

गीता के 'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः' कुत्ते और चांडाल में भी ईश्वर के दर्शन करने के उपदेश को संत एकनाथ ने जीवन में चरितार्थ करके दिखा दिया। वास्तव में—

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ;
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।"

साम्य भाव जिन्हें प्राप्त हो जाता है, उन्हें इस लोक में ही स्वर्ग प्राप्त हो जाता है। सब प्रकार की विषमताएँ दूर करके सबमें साम्य के दर्शन करना ही आर्य-संस्कृति का मूल तत्त्व रहा है। संत एकनाथ ने उसे जीवन में चरितार्थ करके सच्चे महामानव की पदवी पाई।

राम का भक्त

राम-भक्त छिनकू मुसलमानी रियासत बहावलपुर (पंजाब) के रहनेवाले छोटे-से दूकानदार थे। अपने सत्य व्यवहार के लिये प्रसिद्ध छिनकू की दूकान पवित्र घी का एकमात्र केंद्र थी। वह शाम को केवल दो-तीन घंटे के लिये ही खुलती थी। शेष समय छिनकू राम-नाम जपने में ही व्यतीत करते थे।

एक दिन नवाब साहब का मुँहलगा मुसाहिब सबेरे ही घी लेने आ पहुँचा, और छिनकू से दूकान खोलने को कहा। भक्त ने कहा—"यह समय राम-भजन करने का है, शाम को ले जाना।"

तामसी मियाँ अकड़ गए। राम को गाली देकर बकवास करने लगे। भगत ने डाँटा और कहा—"अगर कोई तुम्हें और तुम्हारे मुहम्मद साहब को गाली दे, तो कैसा लगे?"

सुनते ही मुसाहिबजी गरम हो गए, और तुरंत दौड़े हुए पुलिस में गए। पुलिस भगतजी को पकड़ ले गई। लोगों ने समझाया कि साफ़ मुकर जाओ, छोड़ दिए जाओगे, परंतु भक्त छिनकू भला इस रास्ते क्यों चलते। कचहरी में स्पष्ट कह दिया—"मैंने पैग़ंबर को गाली देने की बात कही थी।" क़ाज़ी ने 'संगसार' अर्थात् पत्थर मार-मारकर जान लेने की कठोर सज़ा सुना दी।

अगले दिन भक्त को मैदान में खड़ा किया गया। जो मियाँ उधर से गुज़रता, वह उन्हें पत्थर मारता। चोट लगते ही छिनकू ऊँचे स्वर से कहते 'राम'। पत्थरों ने सिर, छाती, आँख, सारा शरीर घायल कर दिया। रक्त बहने लगा, फिर भी छिनकू बोले जा रहे थे—'राम-राम'।

शाम को एक मुसलमान मित्र से उनकी दशा न देखी गई, और उसने तलवार से उनका अंत कर देने के लिये कहा। भक्त ने कहा—"नहीं, प्यारे मित्र! राजा की आज्ञा सबसे पहले है। उसी के अनुसार मुझे मरना चाहिए। मुझे तो कोई पीड़ा नहीं हो रही है। पीड़ा तो शरीर को हो रही है, जो आज नहीं, तो कल नष्ट होगा ही, फिर चिंता क्या?"

किंतु मित्र न माना। उसने तलवार से सिर काट ही डाला। कहते हैं, कटे हुए सिर से भी देर तक 'राम-राम' की आवाज़ निकलती रही—निकलती रही।

धार का नया मोड़

राष्ट्र-नायक शिवाजी उन दिनों दक्षिण-भारत की बिखरी शक्तियों का संग्रह करके नए महाराष्ट्र का संगठन कर रहे थे। कोकण के कोने - कोने से वीर नवयुवकों की टोलियाँ उनकी वानर-सेना में भरती हो रही थीं। महाबली सेनापति हनुमान् का आदर्श सामने रखकर वानर-नीति से युद्ध करना ही उस सेना का लक्ष्य था। जिस युद्ध-प्रथा को आज 'गोरिल्ला-वार-फ़ेयर' कहा जाता है, उसके अविष्कर्ता आर्य-नेता श्रीरामचंद्र के फ़ील्ड मार्शल जनरल हनुमान् थे। कपटी और अनैतिक शत्रु के विरुद्ध लड़ने के लिये उन्होंने आकस्मिक आक्रमण और पलायन, छद्म-युद्ध आदि की पद्धति का आविष्कार किया था। उनकी इस वानर-पद्धति के कारण ही श्रीराम की सेना वानर-सेना कहलाने लगी थी।

हाँ, तो इस सेना के नायकत्व के लिये राष्ट्र-नायक शिवाजी दक्ष योद्धाओं की खोज में घर-घर घूमा करते थे। जहाँ भी उन्हें किसी स्वदेशाभिमानी योद्धा का पता लगता, वह तुरंत उसके पास जा पहुँचते, और उसे महाराष्ट्र के निर्माण-हेतु, देश के उद्धार के हेतु, राष्ट्रीय सेना में सम्मिलित होने के लिये तैयार कर लेते थे। उनकी वाणी में इतना जोश होता, उनके शब्दों में ऐसा जादुई प्रभाव होता, और उनके

तेजस्वी मुख-मंडल पर निःस्वार्थ भावना की वह दीप्ति होती कि उससे प्रभावित होकर कोई भी स्वाभिमानी भारतीय उनसे इनकार न कर सकता था।

इसी प्रकार के प्रयाण में शिवाजी ने सुना कि सतारा के देहातों का निवासी एक वीर युवक बजाजी निंबालकर जीविका की खोज में सैकड़ों साथियों-सहित बीजापुर की सेना में भर्ती होने जा रहा है। राष्ट्र-नायक इस समाचार से बेचैन हो उठे। पैसे के लिये स्वाभिमानी युवकों को अपनी आत्मा बेचना पड़े, यह उन्हें सहन नहीं हुआ। वह तुरंत सतारा गए, और बजाजी के पिता से मिले। वहाँ उन्हें मालूम हुआ, बजाजी बीजापुर चले गए हैं, और लगभग एक वर्ष से वहाँ नौकर हैं।

बीजापुर जाकर बजाजी से मिलना सुगम न था। शत्रु के स्कंधावार में घुसकर उसके एक विशिष्ट सेना-नायक से भेंट करना और भी कठिन था। किंतु "कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्", का जीवनादर्श लेकर चलनेवाले महावीर शिवाजी अपने उद्देश्य से विमुख न हुए। अपने विश्वस्त साथी नेताजी पालकर को बीजापुर भेजकर बजाजी से भेंट करने के लिये उन्होंने आज्ञा दी। नेताजी पालकर महाराष्ट्र के निर्माण में शिवाजी के दाहने हाथ थे, और उनके हृदय में भी बीजापुर के अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने तथा जनता का राज्य स्थापित करने की प्रबल भावना उसी दिन से जाग्रत् हो चुकी थी, जिस दिन १८ वर्ष की आयु में उन्हें अपनी बहन की ससुराल-यात्रा के समय बीजापुर-सेना की टुकड़ी से चौक गाँव के

निकट एकाकी युद्ध करना पड़ा था, तथा उनकी बहन डोले-समेत मुसलमान सैनिकों द्वारा अपहृत कर ली गई थी। नए महाराष्ट्र के निर्माण में शिवाजी की सहायता करना ही उनके जीवन का उद्देश्य बन गया था। इसीलिये नेताजी बजाजी-जैसे वीर पुरुष को शिवाजी की सेवा में ले आने के लिये बड़े उत्साह से बीजापुर के लिये रवाना हुए।

मराठे घसियारे के वेष में जब नेताजी बीजापुर पहुँचे, तो प्रातःकाल हो रहा था। बहुत-से मुसलमान सिपाही घोड़ों के लिये घास लेने बाजार आ रहे थे। उनके साथ आदिलशाही सेना की मराठा-टुकड़ियों के कुछ हिंदू-सिपाही भी थे। बात-चीत के सिलसिले में नेताजी को पता चला कि किसी स्त्री के चक्कर में पड़कर बजाजी निंबालकर ने धर्म-परिवर्तन कर दिया है, और वह अब मुसलमान-सेनानायक बनाकर सतारा भेज दिए गए और वहाँ के क़िले के क़िलेदार हैं।

नेताजी निराश होकर लोहगढ़ लौटे। रास्ते में अकस्मात् 'पार' की घाटी में उन्हें बाजी शामराज के मुत्सद्दी अलीजान ने घेर लिया, और अनेकों मुसलमानों की सहायता से बंदी बना-कर सतारा के क़िले में भेज दिया। बाजी शामराज बीजापुर का प्रतिनिधि था, और चंद्रराव मोरे जावली के राजा के पास रहकर उसे बीजापुर के प्रति वफ़ादार बनाए रहना उसकी वृत्ति थी। नेताजी ने बाजी शामराव के उस षड्यंत्र को, जिसके द्वारा उसने शिवाजी की हत्या करने की चेष्टा की थी, अकस्मात् पहुँचकर विफल कर दिया था, और बाजी शामराव को अपने

भाले के एक ही प्रहार से यमलोक पहुँचा दिया था। अलीजान ने उसी का बदला लेने के लिये नेताजी को बंदी बनाया था।

नेताजी सतारा के क़िले में क़ैद हैं, यह सुनकर शिवाजी को बड़ी चिंता हो गई। वह रात्रि के गहन अंधकार में सतारा-दुर्ग का निरीक्षण कर गए, और उसे अभेद्य पाकर दूसरे उपाय से नेताजी के छुटकारे का प्रबंध करने के लिये सतारा में ही रह गए। उन्हें मालूम हुआ, नेताजी को जिस काल-कोठरी में बंद किया गया है, उसका एकमात्र मुख थोड़ा-थोड़ा करके प्रति-दिन बंद किया जा रहा है, और अब केवल एक चौथाई भाग ही बंद किए जाने को रह गया है। यदि नेताजी तीन दिन के भीतर बीजापुर की अधीनता स्वीकार नहीं करते हैं, तो उन्हें जीवित ही उस कोठरी में चुन दिया जायगा। शिवाजी की चिंता का ठिकाना न था। वह कारीगरों से जाकर मिले, और उनमें से दो को उन्होंने राज़ी कर लिया कि उस दिन वे बीमारी का बहाना बनाकर अपनी जगह शिवाजी और आबाजी सोनदेव को काम पर भेज दें।

सुबह अपने दो अन्य साथी मज़दूरों के साथ दो नए कारी-गर जब सतारा-दुर्ग के फाटक पर पहुँचे, तो उन्हें भीतर जाने देने में थोड़ी आना-कानी हुई। परंतु नए क़िलेदार के आ जाने के कारण प्रबंध में उतनी सख़्ती न थी, इसलिये उन्हें पुराने कारीगरों की बीमारी की बात कहने पर बे रोक भीतर पहुँचा दिया गया। चुनाई के समय उस दिन जिस संतरी का पहरा था, वह ठेठ अरब था, और मराठी-भाषा से अनभिज्ञ था। शिवाजी

ने चुनाई करते समय मराठी संगीत के संकेतों द्वारा रात्रि को उनके छुटकारे के लिये कार्यान्वित की जानेवाली योजना नेताजी को समझा दी, और सायंकाल वह तेज बुखार का बहाना बनाकर क़िले के माली की कोठरी में ही साथी-सहित पड़ रहे। पहरेवालों ने बीमारी में कोई संदेह नहीं किया। उसी दिन सुबह नए क़िलेदार की पत्नी क़िले में चक्कर मारने निकली थीं, और उसने बंदी-गृह में किसी को 'ज़िंदा दरगोर' किए जाते देखा, तो उसका हृदय काँप उठा। बंदी के विषय में पूछ-ताछ करने पर उसे बताया गया कि माथेराव के निकट चौक गाँव का प्रसिद्ध योद्धा नेताजी पालकर ही वह बंदी है, जिसे शिवाजी के भेद प्रकट न करने के कारण पिछले क़िलेदार ने ज़िंदा दरगोर किए जाने की सज़ा दी है, और पिछले ३ दिन से प्रतिदिन १/४ द्वार चुनवाया जा रहा है। आज अंतिम दिन होगा, जब पूरा दरवाज़ा सदा के लिये बंद कर दिया जायगा।

क़िलेदार की पत्नी का दयार्द्र हृदय यह सुनकर काँप गया। 'चौक' और नेताजी पालकर-नामक शब्दों ने उसके हृदय में पिछले २ वर्षों की घटनाएँ उसके स्मृति-पटल पर सजीव कर दीं, और बड़ी बेचैनी से उसका दिन कटा।

शाम से ही काले बादलों ने आकाश को अंधतामिस्र में लपेटकर विश्व को रहस्यमयी काली तिरस्करिणी से ढक लिया था। अँधेरा बेहद बढ़ रहा था। क़िलेदार खाना खाकर अपने दफ़्तर में काम करने चला गया था। अवसर पाते ही क़िलेदार की पत्नी सब्बल लेकर बंदी-गृह के द्वार पर पहुँची, और उसके

बेचैन हाथों ने शिवाजी द्वारा बनाई नई दीवार को क्षण-भर में ही उखाड़कर आदमी के निकलने योग्य एक छेद बना दिया। अपनी साड़ी खोलकर उसने बंदी-गृह के मुख पर लगे आड़िए से कसकर बाँध दी, और बंदी को उसके सहारे उस कुएँ-जैसे क़ैद-खाने से बाहर निकाल लिया। क्षण-क्षण पर कौंधती हुई बिजली के प्रकाश में उसने देखा कि बंदी नेताजी पालकर सचमुच उसका बड़ा भाई ही है, और वह 'भैया' कहकर उससे एकदम लिपट गई। किंतु एक क्षण बाद ही पीछे से उसके कंधे पर कठोरता-पूर्वक रक्खे गए हाथ ने उसे खींचना प्रारंभ किया, और मुड़कर उसने देखा कि दो क्रुद्ध आँखें उसे घूर रही थीं, और हवा में उठा हुआ एक तेज़ ख़ंजर उसके सीने की ओर बढ़ रहा था। 'प्यारे रुस्तम' मुझे मेरा भाई मिल गया, वह चिल्लाई। 'क़ैदी ही मेरा खोया हुआ भाई है' कहकर वह फिर एक बार नेताजी से चिपट गई। 'रुस्तम जमाँखाँ' नए क़िलेदार के ऊपर उठे हाथ से ख़ंजर भी इसी बीच छिन गया था, और वह दो बल-शाली भुज-दंडों में क़ैद था, और उसके हाथ पीछे की ओर बाँधे जा रहे थे। शिवाजी और आबाजी सोनदेव चुपचाप खड़े होकर भाई-बहन के मिलन के उस रहस्यमय दृश्य को देख रहे थे।

"नेताजी," शिवाजी ने कहा—"क्या क़िलेदार की पत्नी तुम्हारी बहन है ?"

नेताजी स्वयं आश्चर्य और हर्ष के कारण अवाक् थे। पिछले कुछ क्षणों में ही होनेवाली घटनाएँ उनकी समझ में न आ रही थीं, "गंगा !" आश्चर्य से वह चिल्लाए—"बहन, तू

जीवित है ? तू ने ही मुझे इस क़ैद से छुड़ाया है ? क्या महा-राज के साथ थी तू ?" एक साथ कई प्रश्न उन्होंने बाँहों में सिमटी अपनी बहन गंगा से कर डाले। और, तब पिछले दो वर्षों की घटनाएँ भाई-बहन ने दुहराईं। किस प्रकार मुसल-मानों द्वारा अपहृता गंगा बीजापुर ले जाई गई, किस प्रकार उसे मस्जिद में ले जाकर तलवार की धार पर कलमा पढ़ाया गया, किस प्रकार वह आदिलशाह के महल में नौकर हुई, और कैसे नवागत सैनिक बजाजी निंबाल्कर से—जो किसी मुस्लिम औरत के चक्कर में पड़कर मुसलमान हो गए थे, तथा अपने अतुल बल-शौर्य के कारण बीजापुर के शासक महमूद आदिल-शाह द्वारा 'रुस्तम जमा'-उपाधि से विभूषित होकर रुस्तम-जमाखाँ कहलाते थे—उसका परिचय तथा परिणय कैसे हुआ, और कैसे अपने वीर पति के प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी बनकर वह सुखी हिंदू-गृहस्थ का-सा जीवन बिता रही थी, कैसे वे लोग सतारा आए, और कैसे उसे नेताजी के बंदी होने का पता लगा—यह सब गंगा ने उन्हें बताया।

एकाग्र चित्त से भाई-बहन की इस करुण कथा को शिवाजी और रुस्तमजमा सुन रहे थे। दोनों के इस पवित्र स्नेह ने उन दोनों को ही प्रभावित किया। शिवाजी ने आगे बढ़कर गंगा के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखकर कहा—"बहन, आज से तुम नेताजी की ही बहन नहीं, मेरी भी हो—नव जाग्रत् महा-राष्ट्र की बहन हो। तुम्हारे पति भी यदि महाराष्ट्र के बह-नोई बनने का सम्मान स्वीकार करें, तो आज से वह हमारे

पूज्य और सम्मानार्ह बहनोई हों। हम सभी नए राष्ट्र के निर्माण में उनकी बलिष्ठ भुजाओं की सहायता पाकर धन्य होंगे ! वह फिर बजाजी निंबालकर नाम धारण करके हमारे माननीय सेना-नायक बनेंगे। बलात् अथवा अज्ञान और प्रमाद-वश हुए तुम दोनों के ही नाम-परिवर्तन कोई मूल्य नहीं रखते। तुम दोनों की आस्था अब भी अपने पुरखों के धर्म पर बनी है, इसलिये समाज तुम्हें खुली बाँहों फिर अंगीकार करेगा।"

रुणमस्तखाँ शिवाजी की विशाल हृदयता और उनके स्वदेश-प्रेम से प्रभावित हो तुरंत स्वीकृति दे दी, और पति-परायणा गंगा पति के इस निश्चय से विभोर हो, पति की चरण-रज माथे से लगाकर कहा—"स्वामी, आज तक मैं आपके प्रेम की थाह न पा सकी थी, पर आज आपकी महत्ता को उससे भी गहरा पाकर गद्‌गद हो उठी हूँ। आपने आज मेरे मनोनुकूल निर्णय करके हम दोनों के जीवन की दिशा ही बदल दी है। आज से हम दोनों स्वदेश के उद्धार और निर्माण के लिये ही जीवित रहने का व्रत लेंगे, और बड़े भैया के पवित्र चरणों की सदा सेवा करेंगे।"

और, शिवाजी का शिव-संकल्प पूर्ण हुआ। बजाजी निंबाल-कर तथा नेताजी पालकर वास्तव में महाराष्ट्र के निर्माण में उनके दाहने और बाएँ हाथ सिद्ध हुए। देश के संकीर्ण हृदय पंडितों की यदि चलती, तो रुस्तमजमा की तलवार महा-राष्ट्र के विनाश में ही काम आती, और गंगा की कोख कुलां-गारों को जन्म दिया करती।

★

वज्र से भी कठोर

भारतीय इतिहास में जब-जब पुरुष की बलिष्ठ भुजा देश की रक्षा में निर्बल पड़ी, तब-तब उसकी सहधर्मिणी नारी उसका स्थान ग्रहण करने को आगे आई। दाहना हाथ जब थका, तब बाएँ हाथ ने तलवार चलाई। सिंध पर मुहम्मद बिन क़ासिम के अधीन अरबों ने जब आक्रमण किया, तो वहाँ के राजा दाहिर का पुत्र जयब्रह्म पीठ दिखाकर भागा, और क़िले में छिपने के लिये लौटा। पीछे लौटते हुए पुत्र को माँ ने देखा, और क़िले के फाटक बंद करा दिए। लज्जा और क्षत्रियत्व के भार से नत-मस्तक पुत्र फिर लौटा, और सिंधु का अपार जल-राशि को घोड़ों से पार करके, उसकी सेना ने क़ासिम के दाँत खट्टे करके रण-क्षेत्र में ही वीर-गति पाई। दाहिर भी मारा गया। तब रानी और उसकी बहू तलवार सूतकर मैदान में उतरीं, और भयंकर युद्ध करके मारी गईं। दो छोटी लड़कियाँ क़ासिम के हाथ आईं। ख़लीफ़ा वलीद के पास जब तोहफ़े के रूप में वे नावों से अरब पहुँचीं, तो क़ासिम द्वारा सतीत्व भंग किए जाने की मिथ्या कथा कहकर उन्होंने देश के अपमान का वह भयंकर बदला क़ासिम से लिया कि इतिहास आज भी उसका प्रतिद्वंद्वी उदाहरण नहीं दे सका। बैल की ताज़ी खाल

में कासिम को जीवित ही सी दिया गया, और इस कुंभी पाक नरक में उसे कई दिन तक तड़प-तड़पकर प्राण देने पड़े।

संयोगिता ने स्वयं पृथ्वीराज की अंतिम रण-सज्जा करके भारत की मान-रक्षा के लिये तरावड़ी के मैदान में भेजा। राणा हम्मीर की रानी कर्णवती ने गुजरात के बहादुरशाह से लोहा लिया। चाँदबीबी ने अहमदनगर की रक्षा के लिये अकबर का सामना किया। महारानी दुर्गावती ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की ओर से गढ़मंडला की स्वतंत्रता के लिये तलवार लेकर जो भयंकर युद्ध किया, इतिहास उसका साक्षी है।

रघुनाथराव-जैसे घमंडी मराठा सेनापति के दाँत खट्टे करके इंदौर की स्वतंत्रता बनाए रखनेवाली महारानी अहल्याबाई को कौन नहीं जानता?

पुराने इतिहास को छोड़िए। सन् १८५७ में जब दाढ़ी-मूछवाले बहादुर सिख देश की खातिर लड़ने से जी चुराकर बैठ गए, जब सदियों के लड़ाकू राजपूत योद्धा अँगरेजों की हिमायत करने लगे, और जब अहम्मन्य राजे-महाराजे स्वाधीनता के प्रथम संग्राम में स्वार्थों की चिकनी-चुपड़ी का सरंजाम कर रहे थे, तब देश की स्वतंत्रता के लिये मुग़ल बहादुरशाह की मार्मिक अपील पर बुंदेलखंड की नारियाँ ही तलवार लेकर आगे आई थीं। खाँड़े की तेज़ धार उनके हाथ में वज्र से भी कठोर होकर अँगरेज़ों के विनाश के लिये क्षण-भर को बिजली-सी कौंध गई।

प्रातःस्मरणीया महारानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में बुंदेलखंड

की नारियों ने देश-रक्षा का व्रत लिया, और शिवरात्रि को शंकर-गढ़ के महादेव-मंदिर में असि-चालन की शिक्षा प्रारंभ हुई। इस शस्त्र-शिक्षा में न केवल उच्च कुल की ही महिलाएँ सम्मिलित होती थीं, अपितु प्रत्येक स्थिति और वर्ग की महिलाओं के लिये भी वह खुली हुई थी। परिणामतः झाँसी का महिला वर्ग सार्व-जनिक रूप से सैनिक सज्जा और रण-कौशल से परिचित हो गया था। २१ मार्च, १८५८ को सर ह्यरोज कमांडर इन चीफ़ ऑफ़् इंडिया की व्यक्तिगत देख-रेख में झाँसी का घेरा डाला गया। लगभग २० हजार ब्रिटिश और काली फ़ौज ने—जिसमें बुंदेलखंड के प्रधान देश-द्रोही चरखारी, दतिया, चिरगाँव, गुर-सराय और टीकमगढ़ के राजाओं की फ़ौजें भी शामिल थीं—झाँसी के रण-दुर्ग को घेर लिया। २ एप्रिल, १८५८ तक अँग-रेजी फ़ौज झाँसी का घेरा डाले रही, और जारपहाड़ तथा कै-मासिन की टौरियों पर अपनी तोपें चढ़ाकर गोला-बारी करने का उपक्रम रचती रहीं। अँगरेजी तोपों की गोला-बारी के बीच झाँसी के नर-नारी अपने क़िले और परकोटे को सुरक्षित करने के लिये दीवारों को ऊँचा और दरवाजों को पक्की चुनाई से बंद करते रहे, जिससे बाहरी आदमी भीतर न आ सके।

किंतु फिर भी झाँसी में और झाँसी के बाहर जयचंदों की कमी न थी। टीकमगढ़ का नत्थेख़ाँ और झाँसी के एक दुर्जन ने मुख़बिरी कर दी, और ख़िरना दरवाजे के पास की कमजोर दीवार का पता अँगरेजी फ़ौज को लग गया। नगर-निवासियों ने यहाँ परकोटे की दीवार के पास की मिट्टी मकान बनाने

के काम में ले ली थी, और दीवार के आधार को अरक्षित छोड़ दिया था। शत्रु की तोपों ने—जो लगातार १२ दिन तक व्यर्थ गोला-बारी करती रहीं, और झाँसी के रण-दुर्ग को बहुत कम हानि पहुँचा सकी थीं—इस दीवार को २ एप्रिल को तोड़ डाला, और शहर में आने-जाने योग्य मार्ग बना लिया।

नगर के नर-नारी बड़ी तत्परता से इस दीवार की मरम्मत में लग गए। महारानी द्वारा स्थापित युवकों की प्रसिद्ध भीम कर्मिणी संस्था 'कुँवर मंडली' के लोग दीवार के लिये पत्थर और गारा लाते, तथा नगर की स्त्रियाँ सिर पर घड़े रक्खे झिरने के कुओं से पानी लातीं। सैकड़ों नर-नारियों को अँगरेजों की गोला-बारी के बीच इस प्रकार बेधड़क काम करते हुए अँगरेजों तथा अन्य लोगों ने देखा, और उनके साहस की प्रशंसा की। इस पुनीत राष्ट्रीय कार्य में जनता का पूरा सहयोग था। हिंदू और मुसलमान कंधे-से-कंधा भिड़ाकर देश की रक्षा के लिये भरसक प्रयत्न कर रहे थे। 'बाई साहब' (प्रजा महारानी साहबा को इसी नाम से पुकारती थी। बुंदेलखंड में बाई मा को कहते हैं।) की शिक्षा ने उन्हें निर्भयता-पूर्वक देश-हितार्थ प्राण उत्सर्ग करने के लिये तत्पर बना रक्खा था।

अतएव अपने साथी लड़ाके पुरुषों की सहायता के लिये नारियों के झुंड-के-झुंड स्थान-स्थान पर सैनिक कार्य करते देखे जाते थे। सैनिकों के लिये पीने का पानी जुटाना, मरम्मत के लिये सामान पहुँचाना, घायलों की सेवा-शुश्रूषा करना आदि सब काम ये नारियाँ ही करती थीं। क़िले में तोपचियों की

कमी थी, इसलिये महाराज गंगाधरराव की नाटकशाला की प्रधान अभिनेत्री मोतीबाई तथा बाई साहब की दोनो हिंदू-मुस्लिम अंग-रक्षिकाएँ सुंदर-मुंदर इस कार्य में प्रधान तोपची मुहम्मदग़ौसख़ाँ की सहायता करती थीं। मोतीबाई तो स्वयं ही एक कुशल तोपचिन थी। जारपहाड़ पर रक्खी अँगरेजी तोपों के मुँह में गोले का निशाना लगाना उसने उस्ताद मुहम्मदग़ौस से ही सीखा था। अनेक दिन क़िले की रक्षा करते रहकर वीरांगना मोतीबाई अपनी तोप के मुँह पर ही ब्रिटिश गोले का निशाना बनी, और अपने प्रेमी सैनिक ख़ुदाबादख़ाँ तथा उस्ताद मुहम्मदग़ौसख़ाँ के साथ ही वीर-गति को प्राप्त हुई। इन तीनों वीरों की समाधि पर आज भी बुंदेलखंडी प्रति शिवरात्रि पर पुष्प-मालाएँ चढ़ाकर उनके देश-भक्त चरणों में नत-मस्तक होते हैं। नर्तकी मोतीबाई ने नारी के अनुपम साहस और उत्कट देश-प्रेम का उदाहरण उपस्थित करके भारतीय नारीत्व के उस दुर्गा-रूप को निखार दिया, जो आवश्यकता पड़ने पर वज्र से भी कठोर होकर आततायी का नाश करने के लिये खाँड़े की तीखी धार से काम लेना भी जानता है। दूसरी ओर झलकारी कोरिन के नेतृत्व में पानी और भरम्मत के सामान ढोनेवाला 'सफ़र मैना' नारी-दल नारीत्व के सदा सेवा-परायण रूप में अपना कार्य चुपचाप करता चला आ रहा था। किंतु जब इस दल ने ओरछा-गेट से घुसनेवाली ब्रिटिश फ़ौज को देखा, तो सेवा-परायणा नारियाँ तलवार सूतकर उस पर टूट पड़ीं, और उसे तितर-बितर कर दिया।

नारी के दुर्गा-रूप ने महाकराल रण-चंडी का दृश्य तो झाँसी में तब उपस्थित किया, जब ३ एप्रिल, १८५८ को ब्रिटिश फ़ौजों ने चार टुकड़ियों में विभक्त होकर नगर में प्रवेश करने की चेष्टा की।

पहली टुकड़ी फूटे दरवाज़े से घुसी। ८६ नंबर की पैदल अँगरेज़ी रेजिमेंट इस कार्य के लिये नियुक्त हुई। परकोटे के भीतर घुसते ही उसका भयंकर स्वागत हुआ। गुसाइयों और पठानों के संयुक्त मोर्चे ने उसे गहरी लड़ाई दी। दाहनी ओर से ओरछे-दरवाज़े की नारी स्वयंसेविकाओं के पत्थरों और गोलियों ने, झलकारी के नेतृत्व में, उसका अभिनंदन किया। झलकारी की गोली डॉक्टर स्टक के खोपड़े में लगी, और वह झरनों के ढाल पर ही ढेर हो गया। ३ अन्य अँगरेज़ अफ़सर पत्थरों की मार से बेतरह घायल होकर रण-क्षेत्र से भाग गए। सैकड़ों सिपाहियों की लाशें क़िले और परकोटे के बीच धरा-शायी हो गईं। तिल-तिल भूमि के लिये झाँसी की नर-नारियों ने युद्ध किया। परंतु क़िले की तोपें रेंज की निकटता के कारण उनकी रक्षा में असमर्थ थीं और अँगरेज़ों के तुप्पे बराबर उनकी घोड़ा-गाड़ियों पर लदे भयंकर गोला-बारी करते साथ चले आ रहे थे। छोटी तोपों की इस मार के आगे निहत्थे भारतीय ठहर न सके, और अँगरेज़ बाई साहब के महल की ओर तेज़ी से बढ़े, जहाँ उन्हें बाई साहब को गिरफ्तार करने की आशा थी।

ब्रिटिश फ़ौज की दूसरी टुकड़ी नसेनियाँ और रस्सी की सीढ़ियाँ लगाकर परकोटे पर चढ़ने के लिये नियुक्त हुई थी।

यह काम थर्ड बांबे योरपियन रेजिमेंट को सौंपा गया था। मदरास सैपर्स ऐंड माइनर्स का लेफ्टिनेंट फ़ौक्स—जो इस टुकड़ी के साथ था, और सबसे पहले सीढ़ी पर चढ़कर ऊपर आया—भयंकर रूप से घायल हुआ। परंतु थोड़ी ही देर में बहुसंख्यक ब्रिटिश सैनिक दीवार पर चढ़ आए, और गणपत खिड़की पर उनका अधिकार हो गया। वे भी शहर में भयंकर मार-काट करते हुए महल की ओर बढ़े।

तीसरा आक्रमण ऋषिकुंज (अलीगोल-खिड़की) की ओर से हुआ। ये लोग भी तीसरी बांबे योरपियन रेजिमेंट के सैनिक थे। यहाँ के कोरियों, काछियों और मेवाती मुसलमान नर-नारियों ने इनका डटकर सामना किया, और आक्रमण को विफल कर दिया। पन्नालाल-मुहल्ले की बख्शिन के नेतृत्व में स्त्रियों के घुड़सवार दस्ते ने दीवार के किनारे घोड़े लगाकर, और दीवार से स्वयं सटकर रस्सी की सीढ़ियाँ तलवार से काट दीं। परिणामतः चढ़ते हुए अनेकों ब्रिटिश सैनिक नीचे लुढ़ककर बुरी तरह घायल हो गए। लेफ्टिनेंट डक और मैकलजॉन, जो लकड़ी की सीढ़ी के सहारे चढ़कर परकोटे पर आए, तुरंत कोरियों की तलवारों द्वारा काट डाले गए। लेफ्टिनेंट बॉन पत्थर की चोट खाकर अपनी नाक और दाँत तुड़ा बैठा। इस बुरी मार-काट से घबराकर यह टुकड़ी गनपत-खिड़की की ओर भाग गई, और खिड़की के मार्ग से पचकुइयाँ होती हुई टकसाल पर फिर पठानों द्वारा पीटी गई। इस टुकड़ी के कुछ सैनिक बचकर मानिक चौक होते हुए खत्रियाने में घुस पड़े, और पीछा

किए जाने पर गोसाईंपुरे की उस गली से होकर—जहाँ आज-कल वैद्यनाथ प्राणदा का कारखाना दवाइयाँ बनाता है—रानी महल की ओर बढ़े ।

खत्रियाने की कुछ वीर खत्रानियों ने इन सैनिकों को बाई साहब के महल की ओर जाते देखकर रोका, और तलवार लेकर वे उन पर टूट पड़ीं । मठों में रहनेवाले गोसाइयों ने मठों की ओर से आनेवाली गली का मुँह बंद कर दिया, और महल पर से गली में छोड़ी गई गोलियों ने उधर का मार्ग बंद कर दिया । ४० के लगभग ये अँगरेज सैनिक पीछे से इन वीर खत्रानियों द्वारा आक्रांत होकर उस गली में ठीक उसी तरह बंद हो गए, जैसे लोभी चूहे चूहेदान में बंद होकर निष्क्रिय क्रोध से घूरा करते हैं ।

डटकर तलवार चली । सभी अँगरेजों को इन १०-१५ स्त्रियों ने मार गिराया । लेफ्टिनेंट कर्नल टर्नबुल भी, जो इस टुकड़ी का नेता था—इसी स्थान पर मारा गया । अनेकों स्त्रियाँ घायल हो गिर पड़ीं । ३-४ स्त्रियाँ, जो अब भी लड़ रही थीं, पीछे से आने-वाली थर्ड बांबे योरपियंस और सामने से बढ़ती हुई ८६ पदाति सेना के बीच घिर गईं । इन वीर महिलाओं ने जब शत्रु की भीषण संख्या से अपनी रक्षा करने में स्वयं को असमर्थ पाया, तो वे अपने सतीत्व की रक्षा के लिये उस कुएँ में कूद पड़ीं, जो आज भी प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्ता श्रीकुंजबिहारीलाल शिवानी, ऐड-वोकेट के मकान के सामने उनके इस वज्र से भी कठोर साहस का साक्षी बनकर देश-भक्ति का संदेश हमें दे रहा है ।

★

कुसुम से भी कोमल

भारतीय नारी कठिन परीक्षा और कर्तव्य-पालन के समय जहाँ वज्र से भी कठोर बनकर रण-चंडी दुर्गा की तरह भयानक युद्ध कर चुकी है, वहाँ मानव की सेवा और दीन-दुखी की सहायता के लिये उसने अन्नपूर्णा की तरह उदार और मा की तरह स्नेहमयी होकर अपने कुसुम से भी कोमल हृदय का परिचय अनेक बार दिया है।

प्रातःस्मरणीया धाय पन्ना ने जहाँ मेवाड़ की रक्षा के लिये अपने पुत्र को अपनी आँखों के सामने टुकड़े-टुकड़े करवाकर कर्तव्य-काल में वज्र से भी अधिक कठोरता दिखाई, वहाँ उदयसिंह के पालन-पोषण में वह मा से भी अधिक कोमल और वात्सल्यमयी सिद्ध हुई।

बुंदेलखंड की ग़रीब नारियों में पिसनहारी, बूढ़ी मानकुँवर, जिसे झाँसी के लोग स्नेह-वश 'मानो' कहकर पुकारते हैं, लगभग सौ वर्ष बाद भी अपनी उदार मानवता के लिये—वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई की तरह—याद की जाती है।

बात सन् १८६१ की है, जब भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध के बाद देश में भयंकर अकाल पड़ा। कई वर्ष तक लगातार अनावृष्टि के कारण बुंदेलखंड की स्वभावतः सूखी भूमि जगह-जगह बड़ी दरारें फाड़कर पानी के लिये भगवान् से हा-

हा खाने लगी। जंगल के पत्ते तक जानवरों की भूख मिटाने के लिये तोड़कर खिला दिए गए, और चारो ओर सूखे ठूठों से घिरे गाँव मसान-से दिखाई पड़ने लगे। घरों में भूख और बीमारी प्रतिदिन सैकड़ों की बलि लेने लगी। आत्मरक्षा के लिये स्नेह और परिवार के बंधन तोड़कर पापी पेट की ज्वाला बुझाने के हेतु पुत्र-कलत्र का सौदा घरेलू पशुओं की तरह किया जाने लगा, और अन्न के मुट्ठी-भर दाने के लिये मा अपने हृदय के टुकड़ों का त्याग करने की अंतिम सीमा तक आ पहुँची। तब ग़दर की लुटी-पिटी ग़रीब झाँसी की क्या दशा हुई होगी, यह अनुमान किया जा सकता है। अँगरेज़ झाँसी से चिढ़ता था, क्योंकि वह विद्रोह की सबसे बड़ी नेत्री महारानी लक्ष्मीबाई की नगरी थी। अकाल-निवारक उपायों का सरकार ने यहाँ कोई प्रबंध नहीं किया। अतएव दुर्भिक्ष की भयंकर ज्वालाएँ उसे अपनी लपलपाती जिह्वाओं से बुरी तरह झुलसा रही थीं।

उस दिन मानकुँवर लाठी टेकती बड़े बाज़ार की ओर से आ रही थी। बड़े गाँव-दरवाज़े में—जहाँ आज 'जेठा माशाय' स्वर्गीय श्रीशिवपद घोष वकील के बेटे श्रीश्यामाचरण घोष रहते हैं—उसकी छोटी-सी बखरी थी। बाप-दादों की उस बखरी में छोटे-छोटे दो किराएदार भी दो कोठरियों में उसने बसा लिए थे। झाँसी के बड़े घरों का नाज पीसना उसका रोज़गार था। कानफोड़ू, भीत-हिलाऊ और भकभकियाऊ पनचक्कियाँ तब गेहूँ का कचूमर निकालकर निर्जीव आटा नहीं पीसती थीं। पत्थर की बड़ी चक्कियों द्वारा स्त्रियों के हाथ ही तब हमारे चौकों

के लिये स्वस्थ पिसान जुटाया करते थे, और विधवा ग़रीबिनियों की जीविका इस प्रकार आसानी से चला करती थी।

उस दिन मानकुँवर नीखरा सेठ का आटा देने बड़े भोर ही चली गई थी। "भुनसारे दै जइयो, नातर हम तारो लगाकें ओड़छे चली जेंहें।" कहकर पिछले दिन सेठ की मा ने चेतावनी देते हुए गेहूँ दिया था। पर्व के प्रातःकाल ही वेत्रवती के पवित्र जल में स्नान करने के लिये सेठ की मा ओरछा चली जायगी, और यदि उससे पहले आटा न पहुँचा, तो फिर मकान में ताला पड़ा मिलेगा, इसी डर से बुढ़िया उषाकाल से पहले ही उठी थी, और मुँह-अँधियारे ही आटा पीसकर सेठ के घर देने चली गई थी।

सेठ अपनी लंपटता के लिये प्रसिद्ध था। उसकी पत्नी हाल में ही कुढ़-कुढ़कर मर चुकी थी, परंतु वह अपनी हरकतों से बाज़ न आता था। दुर्भिक्ष के आतंक ने अनेकों कुल-ललनाओं के विकसित सौंदर्य और सतीत्व को उसकी बाँहों में ढकेलकर उसकी काम-ज्वाला में भस्म किया था। ज्यों-ज्यों नारी के रूप और सौंदर्य का हवि इस ज्वाला में पड़ता जाता, त्यों-त्यों वह और भी विकराल रूप से प्रदीप्त होती जाती थी। सेठ नीखरा काम-ज्वर से जल रहा था, और पड़ोसी उपाध्याय की बहू को कुँए पर पानी भरने आते-जाते समय वह वासनामय भूखे नेत्रों से उसे सदेह पीकर ठंडा होने के लिये छटपटा रहा था। देहात की बहू, जो बाल-विधवा थी, अभी तक अज्ञातयौवना होने के कारण उसकी वासनाओं से अनभिज्ञ थी। सास यौवन में विधवा

हुई थी, और कुछ दिन पहले सेठ की बाँहों में खेल चुकी थी। घर में नाज न होने के कारण कई दिन से उपवास चल रहा था। पैसा था नहीं, इसलिये सेठ के पास सास का दौरा लगा। सेठ ने बदले का सौदा पटाया। "सुबह बाई ओरछा जायगी, तभी ठीक रहेगा।" और बहू के सतीत्व को अनाज के कुछ दानों पर सास ने बेचने का वादा पक्का कर लिया।

खाली डलिया लेकर सेठ के घर की ओर बहू को जाते मानकुँवर ने बाज़ार से लौटते समय देखा। पड़ोसी के नाते उसने उस लड़की से अकेले जाने का कारण पूछा, तो सेठ के यहाँ से अनाज लाने की सास की आज्ञा सुनकर बुढ़िया का माथा ठनका। सास की रंगीनियाँ उससे छिपी न थीं। उसने बहू को लौटाकर उपाध्याय के घर ले आई। सास को उसने बुरी तरह फटकारा, और स्वयं आटा देने का वादा किया। थोड़ी ही देर में प्रतिज्ञात आटा उसने उन भूखे पेटों के लिये ला दिया।

परंतु दुर्भिक्ष और भूख की पापीयसी संभावनाओं तथा राक्षसी विभीषिकाओं का जो दुर्धर्ष कल्पना-चित्र मानकुँवर के मानस-पटल पर उस बहू के संभावित सतीत्व-नाश ने चित्रित किया, वह किसी तरह न मिट सका। जन-साधारण की बहू-बेटियाँ किस प्रकार भूख के सत्यानासी चरणों पर चढ़ाई जा सकती हैं, यह उसे स्पष्ट दिखाई देने लगा। नारी होकर यदि वह इस विपत्ति से उनकी रक्षा न कर सकी, तो उसका नारी-जन्म ही व्यर्थ होगा—ऐसी दृढ़ धारणा उसके हृदय में उत्पन्न होकर क्रियात्मक रूप धारण करने के लिये छटपटाने लगी।

उसी दिन रात में---जब मुहल्ले के जवान लड़के दिन-भर की मेहनत-मज़दूरी से हारे-थके घर लौटे, और ब्यारी करके निवृत्त हुए---बुढ़िया मानकुँवर सबके घर जा-जाकर न्योता दे आई। एक-एक करके ४०-५० नौजवान उसके आँगन में जमा हो गए। सभी बूढ़ी बहू का सम्मान करते थे, इसलिये उत्सुकता-पूर्वक उसके न्योते का कारण जानने के लिये प्रतीक्षा कर रहे थे।

सबके इकट्ठा हो जाने पर मानकुँवर ने प्रातःकाल की घटना उनके सामने रक्खी, और अकाल के भीषण परिणामों का चित्र खींचकर उसने असूर्यपश्या तथा मध्यश्रेणी की महिलाओं के लिये उचित कार्य की व्यवस्था करने के सुझाव रक्खे, जिससे वे स्त्रियाँ भी मेहनत करके पेट भरने योग्य अन्न प्राप्त कर सकें, और दुराचारियों का शिकार न होने पावें। मानकुँवर ने अपने पिछले ५० वर्ष के वैधव्य जीवन की संचित कमाई इस सार्वजनिक काम के लिये लगाने का वचन दिया। बोली---"बेटा, अब किसके लिये इसे सहेज कर रक्खूँ। बहू-बेटियाँ जब अपना अमूल्य धन बचा सकने में असमर्थ हो गई हैं, तो मैं इन चाँदी के ठीकरों को बचाकर क्या करूँगी। नारायण बाग़ के उस तरफ़, जहाँ कैमासिन की टौरियों की ओर से पानी का बहाव मुस्तरा गाँव की ओर आता है, अगर एक विशाल बाँध बाँधा जाय, और उसे सिंचाई के काम में लाया जाय, तो भविष्य में दुर्भिक्ष कुछ सीमा तक रोका जा सकता है। 'एक पंथ, दो काज' भी होंगे। ताल बन जाने पर यदि पानी उसमें भरा रहेगा, तो उसकी सिंचाई से साल-भर तक अनाज का अभाव झाँसी को न होगा।

बाँध की बँधाई कई महीने चलेगी, और उसकी मजूरी से सैकड़ों औरतों का पेट भी भरेगा। उन्हें किसी के आगे हाथ पसारे बिना और अपनी इज्ज़त का सौदा किए बिना ही पैसे मिल जायँगे; पर मिट्टी खोदने का काम तो तुम्हीं लोगों को करना होगा, और इस पंचायती काम के लिये और लोगों की सहायता भी तुम्हीं लोग जुटा सकोगे। अगर तुम सब भैया मदद करने को तैयार हो, तो ४ हज़ार रुपया जो मेरे पास है, वह मैं इस काम में लगा दूँगी। मकान बेचकर और ५००) मिल जायगा। जरूरत होगी, तो वह भी इसी यज्ञ में लग जायगा। बोलो, क्या कहते हो ?"

ऐसे महान् त्याग से स्तंभित हुए-से लड़कों ने भारतीय युवकों के योग्य ही उत्तर दिया। त्याग और तपस्या का आदर करना और अच्छे काम में सार्वजनिक सेवा के लिये सदा तत्पर रहना भारत के नौजवान अपना कर्तव्य समझते हैं। बड़े गाँव-दरवाजे के लड़कों ने—जिनमें उस दुर्जन पटवे का, जिसने जय-चंद बनकर फूटे दरवाज़े की कमजोरी का रहस्य अँगरेजों को बताया था, लड़का भी सम्मिलित था—तुरंत अपनी सेवाएँ इस पुण्य कार्य-हेतु अर्पित कर दीं।

अगले दिन से ही नगर में अनेकों पंचायतें विविध बिरा-दरियों की उन लड़कों ने जुटाईं, और ताल के निर्माण के लिये सहायता प्राप्त की। किसी ने ईंट, किसी ने चूना, किसी ने अनगढ़ पत्थर और किसी ने कारीगर देकर बुढ़िया मानकुँवर के इस महान् यज्ञ में योग देना स्वीकार किया।

कुछ दिन बाद ही ताल बँध चला। सैकड़ों नर-नारी इस बाँध पर काम करते, जिनमें बहुत बड़ी संख्या शहर की परदे-वाली और उच्च वर्ण की स्त्रियों की थी। लगातार कड़ी मेहनत के १० महीने बाद मिट्टी का बाँध तैयार हो गया, और घाटों की चुनाई भी कुछ दिन में पूरी हो गई। खेतों की सिंचाई के लिये पानी का निकास बनाया जा रहा था कि वर्षा से लदे काले मेघों ने आकाश घेरना प्रारंभ कर दिया। बुंदेलखंड की प्यासी धरती मुहँ बाए उनकी ओर ताकती और उत्तप्त निःश्वास के थपेड़ों से चिलचिलाती मृग-मरीचिकाएँ उत्पन्न करने लगी। बड़े-बड़े बगूले धूल और सूखी पत्तियों के उत्तप्त स्तंभ ऊपर उठा-उठाकर प्यासी पृथ्वी की प्रबल प्रार्थना पावस के उन पानी-भरे मेघों तक पहुँचाने का प्रयास कर रहे थे, फिर भी पानी न बरसा। जनता की पूजाएँ, देवताओं की अर्चनाएँ, मंदिरों के घंटा-नाद, बुढ़ियों के टोटके पानी न बरसा सके। बादलों की पंक्तियाँ आतीं, और समुद्र की अगाध, नील जल-राशि पर स्थिरता से तैरनेवाले महाजलयानों की तरह नील गगन के गहरे वातावरण पर तैरती हुई अबाध गति से बुंदेलखंड की उत्तप्त धरती की प्यास बुझाए बिना ही आगे बढ़ जातीं। गंगा-यमुना के दोआब में पानी बरस रहा था, पर बुंदेलखंड सूखा पड़ा था। ताल के नए बाँध बाँहें पसारे पानी समेटने के लिये—शीतल जल का आलिंगन करके तृप्त होने के लिये—बेकार खड़े थे, बेकार ही रहे।

बूढ़ी मानकुँवर की परेशानी का अंत न था। ज्योतिषियों

के द्वार खटखटाना ही उसका काम हो गया। दैवज्ञ दुर्गाप्रसादजी के पिता उन दिनों झाँसी के प्रसिद्ध युवक ज्योतिषी थे। मान-कुँवर ने उनका दामन पकड़ा। अनेक बार अनुनय-विनय पर ज्योतिषीजी के पत्रे ने बतलाया कि नर-बलि के बिना वर्षा न होगी, न ताल भरेगा।

'मानो' पर मानो वज्र गिर पड़ा। ऐसा भीषण कार्य वह कैसे करेगी। कहाँ से वह बलि के लिये नर-देह पा सकेगी! परंतु उसके बिना उसका यह महायज्ञ व्यर्थ ही रहेगा! जनता भूखी ही रहेगी! क्या करे वह—निश्चय न कर सकी।

किं कर्तव्य-विमूढ़ मानकुँवर लाठी टेकती उस दिन सायं-काल घर न लौटकर बाँध पर ही रह गई। उसका बेचैन मन घर लौटने को न हुआ। घर बिक चुका था, और कुछ दिन बाद नीखरा सेठ उस पर अधिकार लेने आनेवाला था। अब बुढ़िया के पास न पैसा था, न घर। जनता के लिये उसने अपना सोने का संसार उत्सर्ग कर दिया था। बूढ़ा पंछी बिना घोंसले का होकर निराशा के पेड़ की हिलती टहनियों पर बैठा संदेह की वातासा से बुरी तरह झकझोरा जा रहा था। वह अब उस नीड़ में कैसे लौटे, जिस पर क्रूर श्येन की दृष्टि पड़ चुकी थी। ताल के बाँध पर सामान रखने के लिये बनी झोपड़ी में ही बुढ़िया उस दिन पड़ रही। भगवान् ही अब उसका एकमात्र भरोसा था। कर्तव्य उसने पूरा कर लिया था, फल भगवान् के हाथ था। "गीता के गायक गोविंद क्या अपनी 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की प्रसिद्ध घोषणा भूलकर सब किए-धरे को व्यर्थ ही

रक्खेंगे ? नहीं, भगवान् अवश्य अपना कर्तव्य पूरा करेंगे। संभव है, अभी तक मेरा उत्सर्ग पूरा न हुआ हो। कुछ कमी हो, और इसीलिये वर्षा न हो रही हो।" इसी प्रकार की ऊहा-पोह में बुढ़िया को नींद आ गई।

एकाएक वह जाग गई। उसे लगा, मानो किसी ने उसे जगाया हो। दूर से आती हुई एक अस्पष्ट-सी पुकार उसे सुनाई पड़ रही थी, मानो असंख्य नर-नारियों का करुण आर्त स्वर उसे पुकार रहा हो। मानो सैकड़ों भूखी आत्माएँ वेदना के स्वर को दबाने की चेष्टा करके उसे निराशा दुआएँ दे रही हों। वह उस पुकार से खिंची हुई-सी भावाविष्ट-सी उसी ओर चली जा रही थी। पानी के निकास के लिये जहाँ उठाऊ फाटक लगाकर पत्थर के बड़े ढोके से बंद किया जानेवाला था, उसी ओर वह रस्सी से आकृष्ट-सी चली गई। नई बनी चूने-पत्थर की छोटी दीवारें वहाँ उसका मार्ग रोके खड़ी थीं। नीचे नाले का स्तर सूखा पड़ा था। ऊपर अधर में मोटे रस्से से बँधा पत्थर का ढोंका झूल रहा था।

आकाश उस दिन निरभ्र था। पूर्णमासी का चंद्रमा तालाब के सूखे तल की दरारों की बीभत्सता तथा भीषणता को और भी स्पष्ट कर रहा था। नीरव रात्रि आस-पास की पहाड़ियों की गरम उसासों से अब भी उत्तप्त भट्ठी की तरह जल रही थी—हवा बंद थी, मानो संसार दम घुटने से मरने की तैयारी कर रहा हो, अथवा साँस रोककर किसी अप्रत्याशित घटना की आशंका कर रहा हो।

एकाएक बुढ़िया ने निश्चय कर लिया। यह साँसत की दशा देर तक वह न चलने देगी। नर-बलि चाहिए, तो वह अपनी बलि देकर बुंदेलखंड की प्यासी धरती को पानी देगी। उत्सर्ग में जिस कमी की पूर्ति की भगवान् को प्रतीक्षा होगी, वह एकांत आत्मोत्सर्ग वह आज पूरा करेगी।

धीरे-धीरे वह उस चट्टान के पास पहुँची, जिसके चारों ओर लिपटे रस्से ने अधर में लटकते पत्थर के ढोंके को जकड़ रक्खा था। रस्से की पकड़ बुढ़िया ने ढीली कर दी, और वह लपेट धीरे-धीरे ढीली हो चली। पत्थर नाले के तल की ओर तिल-तिल करके उतरने लगा।

बुढ़िया पत्थर के नीचे जा खड़ी हुई। हाथ जोड़कर उसने अनंत आकाश की ओर देखा, और एक करुणामयी, भावनामयी अव्यक्त पुकार उसके हृदय की गहराइयों से उठकर भगवान् की सेवा में जा पहुँची। "प्यासों को पानी दो भगवन्, भूखों को भोजन, मैंने आपका आदेश पालन किया, अब निराश न करो। हजारों जीवों की पुकार सुनो। पानी दो, पानी दो ईश्वर! इतना अन्नमय जल बरसे कि ताल भर जाय, खेत लहलहा उठें, और जनता का जीवन लहरा उठे।"

क्षण-भर में ही पत्थर के ढोंके ने मानकुँवर के अंतिम शब्दों को अपने अनंत भार से इतना भारी कर दिया कि भगवान् भी उसका बोझ न सँभाल सके। करुण प्रार्थना के बोझ से लदे काले बादलों ने आकाश को घेर लिया, और इतना पानी उस रात बरसा कि ताल-तलैया भर गईं। नदियाँ उमड़ चलीं। खेत भर

गए, और वसुधा ने तृप्ति की साँस ली। 'मानो का ताल' उस दिन प्रातःकाल अनंत जल-राशि की लोल लहरियों से लहर उठा। आज भी वह बूढ़ी पिसनहारी के आत्मोत्सर्ग की कहानी प्रतिवर्ष अपने पड़ोस के लहलहाते खेतों की शस्य मालाओं को अनंत पत्तों की जीभ से बखानता रहता है।

कूका सरदारों का आत्मबलिदान

सन् १८६९ में जून की गर्मी असह्य थी। अमृतसर जल रहा था। अँगरेज़ों ने सिखों के पवित्र स्वर्ण-मंदिर के सामने ही एक बूचड़खाना खोलकर हिंदू और मुसलमानों के मन में लड़ाई का एक कारण उपस्थित किया। हिंदुओं ने डिप्टी-कमिश्नर और लेफ़्टिनेंट गवर्नर तक लिखा-पढ़ी करके प्रार्थना की कि वे इस अनिष्टकारी बूचड़खाने को सिख-मंदिर के सामने न रखकर कहीं अन्यत्र रखवा दें। किंतु अँगरेज़ अफ़सरों ने नए जीते हुए पंजाब में पैर जमाने के लिये हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य का जो आधार चुना था, उसे वे न छोड़ सके; यद्यपि मंदिर के सेवादारों ने अफ़सरों को आँखों से दिखला दिया था कि बूचड़-खाने से हड्डियाँ और गो-मांस लेकर उड़ती हुई चीलें और कौवे उन्हें मंदिर और पवित्र सरोवर में गिराकर उन्हें अपवित्र कर रहे थे। नहीं चाहते थे कि बूचड़खाना हटे। और वह नहीं हटा।

लहू और मांस सड़कर ऐसी दुर्गंध उत्पन्न करते थे कि मंदिर के सामने से होकर निकलना नरक-यातना बन रहा था। सिखों के कूका-संप्रदाय के पूज्य गुरु सद्गुरु श्रीरामसिंहजी एक दिन जब मंदिर से दर्शन करके निकले, तो दुर्गंध और बूचड़खाने के वीभत्स दृश्य को न सह सके। उन्होंने सिख भाइयों से इस गंदगी और गो-हत्या को बंद करने का अनुरोध किया। तुरंत बहादुर सिखों

ने भनी साहब में एक सभा की, और एक दर्जन धर्मवीर इस काम के लिये प्राण उत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा करके निकल पड़े।

कुछ दिन बाद, एक रात, जब भयानक अंधड़ अमावस की रात को और भी डरावना बना रहा था, अमृतसर के उस सुनसान क्षेत्र में बूचड़खाने से कुछ चीखें उठकर झंझावत के झकोरों में विलीन हो गईं। लोगों ने न कुछ सुना, न देखा। प्रातःकाल जब तूफ़ान थम गया, और लोग सैर के लिये निकले, तो आँखें लाल-लाल करके बूचड़खाने को देखने लगे। उसका कहीं पता न था। मुसलमान-क़साई, जिनके पैने छुरे सबेरे से ही बीभत्स हत्या का काम प्रारंभ कर देते थे, ख़ून से लथपथ बूचड़ख़ाने के खँडहरों में पड़े थे, और छ-सात बूचड़ों की लाशें भयानक मुद्रा में इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। पंजाब-पुलिस तुरंत मौक़े पर आ धमकी, और नीले रंग की पगड़ी तथा एक कृपाण वहाँ पड़ी देख तुरंत अकाली सिखों की धर-पकड़ में लग गई। बीसों निर्दोष अकाली पकड़ लिए गए। अमृतसर-भर में सैकड़ों अकाली घरों की उसने तलाशी ले डाली। गोरों की फ़ौज बंदूकें कंधे पर रक्खे शहर में गश्त करने लगीं। सायंकाल तक नगर में भयानक आतंक छा गया।

मुक़दमा चला, और सेशन जज ने १२ अकालियों को फाँसी की सजा सुना दी। नियत समय पर निर्दोष अभियुक्त फाँसी के तख्ते पर लाए गए, जो अमृतसर के चौराहे पर खड़ा किया गया था। जल्लाद का फंदा उनके गले में पड़ने ही वाला था कि उपस्थित जनता की भीड़ में एकाएक, एक प्रबल लहर-सी उठी,

और १२ कूका सरदार शुभ्र वेष में बाहर निकलकर चिल्ला उठे—"वे बेक़सूर हैं, फाँसी रोक दो, क़त्ल हमने किया है।" अधिकारी लोग आँखें फाड़-फाड़कर इस अद्‌भुत दृश्य को देख रहे थे। कमिश्नर मेजर डेवीज को विश्वास नहीं आ रहा था कि जो कुछ वह देख रहा है, स्वप्न नहीं, अपितु सत्य है। किंतु जब सरदार लहनासिंह, गुलाबसिंह और फ़तहसिंह ने चिल्लाकर कहा कि गाय की हत्या करनेवालों और बूचड़खाने को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाले हम लोग हैं, अकाली नहीं; हम फाँसी की सज़ा स्वीकार करने के लिये स्वयं तैयार हैं। तब कमिश्नर डेवीज ने उन्हें गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। दसों सरदार गिरफ्तार कर लिए गए, और उनमें से लहनासिंह और गुलाबसिंह ने बूचड़खाने की हत्याओं का सारा विवरण अदालत में स्वीकार कर लिया, अकाली छोड़ दिए गए, और धर्मवीर सिखों ने गौ की रक्षा के लिये ख़ुशी-ख़ुशी मृत्यु का आलिंगन किया। उस समय सिखों में हिंदुओं से पृथक् होने की भावना नहीं उत्पन्न हुई थी, और वे महान् गुरु गोविंदसिंहजी, जो स्वयं केदारनाथ के क्षेत्र में हेमकुंड पर शिवजी और देवी दुर्गा की पूजा किया करते थे, और हिंदू-धर्म तथा गो-रक्षा के लिये सदा मुग़लों से लोहा लेते रहे थे, के समान अपने को हिंदू ही समझते थे। इन वीरों के इस अपूर्व बलिदान ने अमृतसर को वर्षों तक गो-हत्या के पाप से बचा रक्खा था। बूचड़खाने सदा के लिये वहाँ से हट गए, और अमृतसर का अमृत-जल तब से अब तक अपवित्र होने से बचा है।

★

नए इतिहास का नया पृष्ठ

१९४७ के विभाजन के बाद पूर्वी पाकिस्तान में जब अंसार गुंडों ने संगठित रूप से ढाका तथा अन्य मुख्य हिंदू-बस्तियों पर अत्याचार शुरू किए, तब हजारों की संख्या में पूर्वी बंगाल के हिंदू पैदल तथा रेलों द्वारा भारतीय सीमा की ओर आने लगे। उनकी सहायता के लिये सरकार ने तथा बंगाल के तत्कालीन मुख्य मंत्री श्रीप्रफुल्लचंद्र राय ने भारत की जन-सेवक संस्थाओं को आमंत्रित किया था। आमंत्रित संस्थाओं ने यथाशक्ति सहायता कैंपों का संगठन किया। भारतीय आर्यवीर-दल के कैंप भारतीय सीमा के साथ-साथ लगे हुए संपूर्ण पाकिस्तानी मध्य-रेखा के समानांतर फैले हुए थे।

लाखों अत्याचार-पीड़ित हिंदू-परिवार जब इस सीमा-रेखा पर आते, तो भारत-सरकार के कैंपों पर सहायता-कार्य करने के लिये ये आर्यवीर तुरंत पहुँचते, और यथाशक्ति सेवा करते। उनके कार्य से मुख्य मंत्री श्री० पी० सी० राय ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने न केवल अपने प्रेस-वक्तव्य में ही उसका जिक्र किया, अपितु दल के सदस्यों को सुविधाएँ देने की आज्ञाएँ भी प्रचारित कीं।

आर्यवीर दल को प्रतिदिन पाकिस्तान के उपद्रवी लोगों और विशेषत: अंसारों की संगठित टुकड़ियों का प्रतिरोध करना

पड़ता था। ये लोग भारतीय सीमा में घुस कैंपों पर डाके डालते और हिंदुओं को मार उनका सामान और स्त्रियाँ उठा ले जाते। अतः पुलिस तथा दल के सदस्यों को सदा सजग रहना पड़ता था।

जयनगर-सीमा पर इस दल के नेता का कैंप था। थोड़े-से वीर वहाँ काम करते थे। श्रीओमप्रकाश पुरुषार्थी उसके नेता थे।

सायंकाल चारों ओर शांति थी। कैंपों में लोग विश्राम कर रहे थे। अकस्मात् 'अल्ला हो अकबर' के नारे गूँजे। पाकिस्तानी सीमा पर, पाकिस्तानी पुलिस के दस्ते के संरक्षण में, अंसार वालंटियर अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित हो मशालें लिए चले आ रहे थे।

भारतीय पुलिस के कैंप में उस समय केवल चार सिपाही थे। उनमें से एक बहुत बीमार था। चार राइफ़लें ही उस समय उनके पास थीं। कारतूसों की संख्या पर्याप्त थी। पाकिस्तानी गुंडों की भीड़ को देख भारतीय स्वयंसेवकों तथा शरणार्थियों के दिल काँप उठे। गुंडों की नृशंसता की कहानियाँ वे सुन चुके थे। आज उनके समक्ष वह राक्षसी कांड प्रारंभ हो उठा था। गुंडों ने कैंपों में आग लगानी शुरू की। मार-पीट, छीना-झपटी भी प्रारंभ हो गई। भारतीय पुलिस की उस छोटी-सी टुकड़ी के कैंप से गोलियाँ चलनी प्रारंभ हो गईं। इतने सच्चे निशाने पड़ रहे थे कि एक-एक गुंडा धराशायी हो रहा था। पाकिस्तानी पुलिस और गुंडों ने भी गोलियाँ चलानी शुरू कीं। श्रीओमप्रकाशजी ने चार राइफ़लों में से एक स्वयं ले ली, और तीनों पुलिसमैनों से एक के बाद एक फ़ायर करने का क्रम बनाए रखने को कहा, जिससे उन्हें पता न लग सके कि कितने भारतीय

सैनिक फ़ायर कर रहे हैं। वीर दल के दो स्वयंसेवक पुरुषार्थी-जी का संदेश लेकर सैनिक कैंप की ओर रवाना हो गए।

श्रीओमप्रकाश और उनके साथी ३६ घंटे तक गोलियों का जवाब गोलियों से देते और उन्हें आगे बढ़ने से तब तक रोके रहे, जब तक पुलिस और सेना की सहायता न आ पहुँची।

भारतीय सैनिकों के आते ही वे कैंप के बाहर आए, और उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए उन्होंने पाकिस्तानी पुलिस तथा अंसारों का दूर तक पीछा किया।

जिला-मजिस्ट्रेट ने वीर दल के इस कार्य के उपलक्ष्य में उसके नेता श्रीओमप्रकाश को जयनगर-सेवा-कैंप के संगठन का अध्यक्ष नियत किया, और सभी स्वयंसेवक-दलों ने ऐसे वीर भारतीय युवक के नेतृत्व में कार्य करना सहर्ष स्वीकार किया।

निहत्थे भारतीय युवकों ने उस दिन इतिहास का वह नया पृष्ठ लिखा, जो स्वतंत्र भारत के आगामी कार्य-क्रम का आदिम पृष्ठ बन गया। आज भी देश का सीमांत अरक्षित है। बीकानेर, सौराष्ट्र और पंजाब की ७०० मील लंबी सीमा-रेखा तथा पश्चिमी बंगाल और आसाम की सीमा-रेखा की सुरक्षा का भार हमारे देश के श्रीओमप्राश-सरीखे नौजवानों पर ही है। सेना और शस्त्र उसकी रक्षा नहीं कर सकते। उसकी रक्षा का व्रत तो हम में से प्रत्येक युवक को लेना होगा। धर्म और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये हमें साहस, वीरता और शस्त्र चलाने का अभ्यास करना होगा।

★ खाँड़े की धार : कहाँ चूकी ?

दया का बदला दगा

विक्रमीय संवत् १०३४ (सन् ९७७ ई०) जाड़ों के दिन थे। भयंकर शीत से सारा पंजाब ठिठुर रहा था। पहाड़ियों की चोटियाँ रात में बर्फ़ से ढककर दिन में छोटी नालियाँ बहाया करतीं। खेत झुलस गए थे, और पेड़ों की पत्तियाँ बर्फ़ीली ठंड से चुरमुराकर झड़ गई थीं। चारो ओर एक विचित्र निराशा और उदासी का-सा संसार छाया हुआ था कि लाहौर में एक विदेशी क़ाफ़िले ने बड़ी दयनीय दशा में प्रवेश किया। परकोटे के प्रहरियों ने उन्हें रोक द्वारपाल को सूचना दी, और अगले दिन वे परदेशी उत्तर पांचाल के अधीश्वर महाराज जयपाल के दरबार में प्रस्तुत किए गए।

वे दो-सौ परदेसी मुसलमान तुर्क थे, और अपने सरदार शेख़ फ़रीद के साथ ग़ज़नी से भागकर आश्रय लेने और जीविका की खोज में भारत आए थे। ग़ज़नी के शासक अलप्त-गीन ने बुढ़ापे में एक सुंदर ग़ुलाम युवक को ख़रीदा था, जो उसकी नई बेग़म का बड़ा मुँहलगा था। सुबुक्तगीन उसका नाम था। सन् ९७७ ई० में ग़ज़नी का कर्ता-धर्ता ही वह ग़ुलाम बन बैठा था। अलप्तगीन को गला घोटकर उसने मार डाला था, और बेग़म को हथियाकर वह ग़ज़नी का शासक बन बैठा था। शेख़ फ़रीद, जो अलप्तगीन का सिपहसालार था, इस

गुलाम के अनवरत अत्याचारों से तंग आकर स्वदेश छोड़ भागने के लिये विवश हुआ था। अपने दो-सौ साथियों को लेकर इसी-लिये यह क़ाफ़िला खैबर-घाटी से उतरकर सीधा लाहौर आया था, जहाँ के महाराज की गुण-ग्राहकता की कहानी खुरा-सान तक पहुँच चुकी थी। वीरों की महाराज जयपाल के यहाँ बड़ी क़दर थी, और इसी कारण पश्चिमोत्तर सीमांत के गक्खर योद्धा उनकी सेना में बहुधा भर्ती होने आया करते थे। गांधार देश के सैनिकों की एक सेना ही उनके यहाँ थी। धर्म की विभि-न्नता ने उस समय तक राजनीति का वह कोट नहीं पहना था, जो यथावसर उलट-पलटकर पहना जा सकता, और एक दूसरे को धोखा देने के काम में लाया जा सकता है। महाराज जय-पाल धर्म को वैयक्तिक उपासना का आधार-मात्र समझते थे। मानवता और उदारता, जो क्षत्रिय का धर्म है, उनमें कूट-कूट-कर भरी थी। वह वाचन के दृढ़, आचरण के शुद्ध और वीरता में अडिग थे। इसलिये सच्चे योद्धा का वह सम्मान करते थे, और प्राचीन क्षत्रियों की तरह शरणागत की रक्षा करना अपना धर्म समझते थे। खैबर के उस पार तक उनका राज्य था। इसलिये वे सीमांत के लोगों की वीरता से परिचित थे। उस समय गांधार तक हिंदुओं की ही बस्ती थी।

महाराज जयपाल ने विदेशी मुसलमानों के नेता शेख़ फ़रीद की करुण कहानी सुनकर उसे अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार कर लिया, और वह गांधार सेना में भर्ती होकर कुछ दिनों में ही उस टुकड़ी का नायक बन गया।

सुबुक्तगीन ने महाराज जयपाल से इन भगोड़ों की माँग करने के लिये अपना दूत लाहौर भेजा, जिसे शरणागत-वत्सल महाराज जयपाल ने इनकार के साथ वापस कर दिया। अत-एव सन् ९७७ के अंत में सुबुक्तगीन ने पश्चिमोत्तर भारत के सीमांत पर आक्रमण कर दिया। महाराज जयपाल ने खैबर के उस पार जाकर वर्तमान जलालाबाद के निकट अपना सैन्य स्कंधावार स्थापित कर दिया। और घमासान युद्ध के बाद सुबु-क्तगीन को वह करारी हार दी कि बरसों तक उसे भारत की ओर मुँह फेरने की हिम्मत न हुई।

इस युद्ध में शेख फ़रीद और उसके साथियों ने बड़ी वीरता दिखाई, और भयानक युद्ध किया। महाराज जयपाल उनकी इस कृत-कृत्यता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने खैबर-घाटी और पेशावर के सीमांत का शासक शेख फ़रीद को ही बना दिया, और आज्ञा दी कि वह किसी भी शत्रु को उधर के मार्ग से भारत में न घुसने दे।

पराजित होकर सुबुक्तगीन चुप नहीं बैठा। उसने दीन इस्लाम की दुहाई देकर खुरासान और बलोचिस्तान के भूखे लुटेरों को इकट्ठा करना प्रारंभ किया। भारत के हरे-भरे मैदानों और समृद्ध नगरों के ऐश्वर्य, वैभव की अतिरंजित कथाएँ कह-कर उनके लोभ की लपलपाती जीभों को टपकने के लिये विवश किया, और उन भेड़ियों की भूखी आँखें भारत को कच्चा चबा जाने के लिये चमकाईं। इन कई लाख भेड़ियों की सेना भारत पर आक्रमण के लिये सन् ९७७ से ९९१ तक तैयार होती रही।

सुबुक्तगीन इन २१ वर्षों में कई बार पराजित होकर भागा, परंतु निर्लज्ज एक बार भी अपने कुकृत्यों से बाज न आया। उसने शेख़ फ़रीद की सेना में अपने सैकड़ों पंचमांगी भरती करा दिए। शेख़ फ़रीद को भी अनेकों प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। नमकहराम परदेसी कभी भी भारत के प्रति वफ़ादार नहीं रहे, यह हमारे इतिहास का पन्ना-पन्ना पुकार रहा है। पर हम भी ऐसे बुद्धू सदा रहे कि हमने मानवता और उदारता के जोश में और अपनी वीरता की शेखी में पड़कर इन परदेसी लोगों का—चाहे वे हूण, शक, यहूदी, जो पारसी, मुसलमान और ईसाई कोई भी रहे हों—सदा विश्वास किया, और उन्हें खुली बाहों गले से लगाया, जब कि हमारी दया और मया—जिसे मानवता भी कहते हैं—के बदले में हमें सदा दगा ही मिलती रही। शेख़ फ़रीद भी इस जातीय अवगुण का अपवाद न था, उसने स्वधर्मियों का पक्ष लेकर अपने आश्रयदाता के उपकार भुला दिए और भारत को परदेसियों के हाथ बेच देना स्वीकार किया। लोग इतिहास के इस तथ्य को उस शुतुर्मुर्ग की तरह, जो शिकारियों को पीछे आता देख रेत में मुँह छिपाकर समझ लेता है कि अब शिकारी उसे नहीं देख पाएगा—धर्मनिरपेक्षिता के रेत में मुंह छिपाकर भले ही भुला दें, परंतु इतिहास उसे भुला नहीं सकता।

लाहौर में बैठे महाराज जयपाल इस विश्वासघात से बेख़बर थे। सुबुक्तगीन की सैन्य-सज्जा के समाचार उन तक पहुँच चुके थे, इसलिये भारत के अन्य समकालीन शासकों को देश

की रक्षा के लिये, सीमांत पर पहुँचने के लिये, उनके निमंत्रण भेज दिए गए। तदनुसार दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, क़न्नौज के प्रतिहार और बुंदेलखंड (जो उस समय याजक भुक्ति अथवा जुझौति कहलाता था) के चंदेलवंशी महाराज यशोधर्मदेव की महारानी 'नर्मदेवी' के पुत्र राजाधिराज धर्मांगदेव (धंग) अपनी सेनाएँ लेकर पुष्पपुर (पेशावर) तुरंत पहुँच गए।

भारत की इस संयुक्त सेना के मोर्चे खैबर के उस पार संवत् ९९९ के वसंत-मास में लग गए। सुबुक्तगीन खुली लड़ाई से कतराता और छुट-पुट हमले करता रहा। मैदानों की लड़ाई के अभ्यस्त भारतीय योद्धा पहाड़ी लड़ाई और परदेस में आगे बढ़ने से बचते रहे, और घाटी के उस पार जमकर युद्ध करने की प्रतीक्षा में ही रहे। विश्वासघाती शेख़ फ़रीद खैबर की रक्षा का बहाना करके पृष्ठ-सेना का अध्यक्ष बनकर पेशावर में बैठा रहा। महाराज धंग तथा अन्य क्षत्रियों ने परदेसी के हाथ भारत का द्वार सौंपे रहने की नीति पर कई बार आक्षेप भी किया, किंतु महाराज जयपाल ने कोई ध्यान न दिया।

जाड़ा आते ही भयंकर ठंड पड़ने लगी। शीत के अनभ्यस्त भारतीय सैनिक बीमार हो घबरा उठे। इसी समय सुबुक्तगीन के आक्रमणों की गति तीव्रतर हो चली, और घबराई भारतीय सेना पीछे हट अपने देश के मैदानों की हलकी सर्दी में विदेशियोंका सामना करने का निश्चय करके खैबर की ओर मुड़ी।

खैबर का द्वार बंद था। विश्वासघाती शेख़ फ़रीद ने बड़ी-बड़ी चट्टानें गिराकर और भारतीय अस्त्रों द्वारा सुसज्जित

सीमांतीय सैनिकों की मोर्चेबंदी से उसे अगम्य बना रक्खा था।

दोनो ओर से घिरी भारतीय सेना वीरता-पूर्वक लड़ी, परंतु भयानक शीत ने उसे अशक्त बनाकर पराजित होने के लिये विवश कर दिया। केवल कुछ हज़ार सैनिक महाराज जयपाल और महाराज धंग के नेतृत्व में जीवित लौट सके। शेख़ फ़रीद को महाराज धंग ने मार डाला, परंतु ख़ैबर का द्वार उस परदेशी ने जो एक बार खोला, वह फिर बंद न हुआ। सुबुक्तगीन, उसके बाद उसका बेटा महमूद ग़ज़नवी और फिर मुहम्मद ग़ोरी, तब बाबर और फिर नादिरशाह और उसके बाद अब्दाली आदि अनेकों परदेसी हमारे हरे-भरे देश को रौंदते, जलाते और लाखों नर-हत्याएँ करते, लूटते चले आए।

शायद भविष्य की इस कठोर कल्पना का चित्र देखकर ही अपनी दया की अपात्रता का प्रायश्चित्त करने के लिये उस संयुक्त मोर्चे के उन दो अवशिष्ट भारत-पुत्रों ने आत्मघात-जैसे कठिन मार्ग का अवलंबन किया। महाराज जयपाल ने अपनी ग़लती के प्रायश्चित्त में तुषों (चावल की भूसी) की चिता में प्रवेश करके और १०९ वर्ष की आयुवाले महाराज धंग ने अक्षयवट की शाखा पर से त्रिवेणी-संगम, प्रयाग में कूदकर अपने प्राण दे दिए। देश की पराधीनता को वे दोनो ही वीर अपनी आँखों देखना न चाहते थे, पर रोक भी न सकते थे। खजुराहो के लालाजी-मंदिर से तथा मऊ-सहानिया से उपलब्ध शिला-लेख महाराज धंग के इस आत्मोत्सर्ग के संवत् १०५६ के, साक्षी हैं।

★

जब सर्व शक्तिमान् सोते ही रहे।

पौष शुक्ल १४, संवत् १०८२ वि० भारत के इतिहास का वह कलंकमय दिवस है, जब हमने अपने धार्मिक अंध-विश्वासों तथा आत्मश्लाघाओं के कारण भयानक पराजय ही नहीं प्राप्त की, अपितु शताब्दियों के लिये अपनी मातृभूमि को भी पराधीन बना दिया।

गुजरात के वैभवशाली सोमनाथ-मंदिर की अपार संपत्ति की कहानियाँ सुलतान महमूद ग़ज़नवी के कानों तक पहुँच चुकी थीं। अपने पिछले हमलों में उसने भारतीय राजपूतों की फूट के कारण १६ बार लगातार विजय पाई थी, इसलिये उसे मरुस्थल के उस पार निर्जन समुद्र-तट पर स्थित सोमनाथ-मंदिर को लूटने में ज़रा भी हिचक न थी।

६ ऑक्टोबर, सन् १०२५ को वह ग़ज़नी से भारी सेना लेकर निकला, और मुलतान, अजमेर, नाडौल, अनहिलवाड़ा (पाटन) पर धावे मारता ६ जनवरी, १०२६ को सोमनाथ जा पहुँचा।

गुजरात का प्रसिद्ध सोमनाथ का विशाल मंदिर रत्न-जटित ५६ खंभों पर खड़ा था। ४० मन सोने की ज़ंजीर से सैकड़ों मन भारी एक सोने का घंटा वहाँ लटकता रहता था। ५ गज़ ऊँची शंकर की प्रतिमा अनर्घ्य रत्नों से जड़ी वहाँ पूजी जाती

थी। करोड़ों की संपत्ति धार्मिक हिंदुओं द्वारा चढ़ोतरी और दान में इस मंदिर में लगी हुई थी। कहते तो यहाँ तक हैं कि मंदिर की महादेव-लिंग-मूर्ति पोली थी, और उसमें अनंत रत्न-भंडार भरा हुआ था। यह भी कहा जाता है कि वह 'आयसी' अथवा लोहे की थी और मंदिर की दीवारों में लगे हुए चार शक्तिशाली चुंबकों के आकर्षण से अधर में लटकती रहती थी। अपनी इस खेचरी मुद्रा के कारण ही वह समस्त भारत में लोक-विश्रुत थी। देश के कोने-कोने से लाखों यात्री उसके दर्शन के लिये सोमनाथ आया करते थे। इसलिये वह जन-जन की श्रद्धा और भक्ति का आधार हो गई थी।

मंदिर में दान और भिक्षा के बल पर जीनेवाले ब्राह्मणों की एक बहुत बड़ी सेना-सी सदा पड़ी रहती थी। देश के कोने-कोने में जाकर ये ब्राह्मण ऐश्वर्यशाली सोमनाथ की कीर्ति-कथा कह-कहकर लोगों को उनके दर्शन के लिये उकसाते रहते थे, क्योंकि वही उनका धंधा और जीविका का साधन था। सोमनाथ की सर्वशक्तिमत्ता का सिक्का इन ब्राह्मणों की कपोल-कल्पित गप्पों द्वारा अंधविश्वासी हिंदुओं के हृदय पर बैठा हुआ था। वे यह विश्वास करते थे कि भगवान् सोमनाथ स्वयं समर्थ हैं, और जब चाहेंगे, अपने गणों को आदेश देकर आक्रांता को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। ब्राह्मण और उनके चेले क्षत्रिय ही उस काल के पश्चिमीय भारत के हिंदू-समाज के नेता थे। ब्राह्मणेतर जातियों को शास्त्र और धर्म के विषय में कुछ भी कहने-सुनने का अधिकार न था।

सामाजिक नेतृत्व के इस अधिकार का वे इतनी अधिक कठोरता से पालन कराते थे कि ब्राह्मणेतर लोगों को शास्त्र चर्चा करते देखकर वे तलवार लेकर उन पर टूट पड़ते थे, और उन्हें कचहरी में प्रस्तुत करके उनकी जीभ काट लेने का दंड दिलाते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी लोगों पर कर लगे हुए थे। ब्राह्मण लोग अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर किसी भी अन्य व्यक्ति का सम्मान नहीं करते थे, न किसी अन्य देश को बलशाली समझते थे। अपने आपको और अपनी जाति को ही वे सर्वशक्तिमान् सोमनाथ का पुजारी होने के कारण सर्वश्रेष्ठ समझते और स्वयं को उनका एकमात्र ठेकेदार कहते थे।

पारस्परिक फूट का गुजरात में उन दिनों बोलबाला था। छोटे-छोटे जमींदार राजा की उपाधि धारण करके अपने को चक्रवर्ती से भी अधिक शक्तिशाली मानकर अभिमान के नशे में चूर रहते थे। पड़ोसी जमींदारों से उनका कोई मेल-जोल न था। दिन-रात स्थानीय लड़ाइयों के कारण क्षत्रियों में परस्पर विद्वेष की आग सुलगती रहती थी। इस आग को भड़काने में मुसलमान सूफ़ी फ़क़ीर—जो ईसा की आठवीं शताब्दि के लगभग पर्याप्त संख्या में कोंकण, खंभात, गुजरात, मलाबार के तटों पर अरब देशों से आकर उतर रहे थे—धौंकनी का काम कर रहे थे। संत का बाना पहने हुए ये विदेशी जासूस भारत में इस्लामी साम्राज्य का स्वप्न लेकर आए थे, और धीरे-धीरे अपने जादुई प्रभाव से हिंदू-समाज के ब्राह्मणेतर

वर्गों के असंतोष और फूट का लाभ उठाकर उन्हें ब्राह्मणों के प्रति विद्रोही बना रहे थे। साथ-ही-साथ क्षत्रिय राजाओं को प्रभावित करके उनके दरबारों में घुस-पैठ कर रहे थे। ब्राह्मण पंडितों की गर्वीली वृत्ति से तंग आए हुए ये क्षत्रिय राजा इन फ़क़ीरों की मेमने की खाल में छिपी हुई भेड़िए की भूख को समझ नहीं पा रहे थे, और उन्हें वास्तविक संत जानकर उनके जाल में इतने फँस गए थे कि अपने देश-वासियों को उनकी खातिर दंड देने में भी नहीं हिचकते थे।

वल्लभी (गुजरात) के राजा बलहार ने इन मुसलमान फ़क़ीरों और उनके चेलों का अपने राज्य में उन्हीं दिनों बड़े उत्साह से स्वागत किया था। कोंकण, काठियावाड़ और मध्य-भारत के अनेक हिंदू-राज्यों में ८वीं शताब्दि से ११वीं शताब्दि तक इन मुसलमान संतों को बड़ी सुविधाएँ दी जाती रहीं और उन्हें इस्लाम का प्रचार करने का सुअवसर मिलता रहा। एक बार खंभात के हिंदुओं ने इन संतों की बदमाशी से तंग आकर जब एक मस्जिद गिरा दी, तो वहाँ के हिंदू-राजा ने हिंदू-प्रजा को भारी अर्थ-दंड दिया, और राज्य के खर्च से मस्जिद बनवा दी।

संतों की यह पंचमांगी सेना हमारे देश की फूट और जाति-विद्वेष तथा हमारे विभिन्न राज्यों की और मंदिरों की अतुल संपत्ति के समाचार जहाँ अरब, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के भूखे भेड़ियों के पास भेजती थी, वहाँ वह देश में देश-द्रोही लोगों की खोज-खबर भी लेती रहती थी। विदेशों से विशेष

जासूस भी आकर तात्कालिक समाचार यहाँ से ले जाया करते थे। इन्हीं जासूसों में 'शेख़ सादी'-नामक प्रसिद्ध फ़ारसी कवि भी था, जो अपने काव्य 'बोस्ताँ' में लिखता है कि वह महमूद के आक्रमण से कुछ दिन पहले सोमनाथ के मंदिर में हिंदू-साधु का बाना पहनकर रह गया था। बोहरे मुसलमानों के आदिम गुरु ने भी इन्हीं दिनों यमन से आकर गुरुद्दीन-नामक फ़क़ीर के काम को गुजरात में हस्तगत किया, और गुजरात के कुनबियों, खेरवाओं और काडियों की भारी संख्या को धोखा देकर कि वे श्रीकृष्ण के आधुनिक अवतार हैं—इस्लाम के एक विकृत संप्रदाय में दीक्षित करना प्रारंभ कर दिया था।

गुजरात की ऐसी परिस्थिति थी, जब ग़ज़नी के शासक महमूद ने अपने विशिष्ट जासूस अलीबिनउस्मान अलहजवीसी—जिसने 'कशफुल महजूब'-नामक ग्रंथ की रचना की है, और जो उत्तरीय भारत का दौरा करके गुप्त समाचार भेजने के लिये ग़ज़नी से भारत आया था, तथा लाहौर में रह रहा था—का संकेत पाकर अफ़ग़ानिस्तान के असंख्य बर्बरों को लूट का लालच देकर भारत पर चढ़ा लाया। हज़ारों मन सोना, चाँदी और जवाहरात उसके हाथ लगे, और लाखों हिंदुओं को उसने तलवार के घाट उतारा तथा ३० हज़ार से ऊपर हिंदुओं को ग़ुलाम बनाकर वह ग़ज़नी ले गया।

महमूद का १७वाँ आक्रमण सोमनाथ पर हुआ। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि वह धावे मारता हुआ ३ महीने के अंदर ही गुजरात में जा घुसा, और सोमनाथ के निकट पड़ाव डाला।

वल्लभी, खंभात, काठियावाड़ के लाखों क्षत्रिय और ब्राह्मण भगवान् सोमनाथ की रक्षा के लिये मंदिर के विशाल प्रांगण और बहिरंग में एकत्र हुए। वल्लभी-राज के नेतृत्व में क्षत्रियों की सेना ने महमूद से सीधा लोहा लेने का निश्चय किया। वे व्यूह रचना कर ही रहे थे कि 'कर्सनजी'-नामक प्रधान पुजारी ने उन्हें डाँटा, और सर्वशक्तिमान् सोमनाथ की सत्ता का अपमान करने के लिये बुरा-भला कहा।

कर्सनजी ने कहा—"ऐ मूर्ख ठाकुरो, क्यों व्यर्थ में अपनी तलवारों की ताक़त दिखलाने चले हो! क्या तुम नहीं जानते कि सर्वशक्तिमान् सोमनाथ जो अधर में—आकाश में—खं ब्रह्म बनकर व्याप्त तथा जो मंदिर में भी निराधार विराजमान हैं, अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते? क्या हमारा ब्रह्मतेज म्लेछों को भस्म कर देने के लिये पर्याप्त नहीं है, जो तुम्हारी तलवारों की हमें अथवा भगवान् सोमनाथ को आवश्यकता पड़े। तुम एक ओर बैठो और देखो कि हमारे पुरश्चरण और उच्चाटन से किस प्रकार भैरव और वीरभद्र अपने गणों के साथ प्रकट होकर इन म्लेछों को मार भगाते हैं।"

प्रधान पुजारी के इस आश्वासन से क्षत्रियों में ऐसी अंध-श्रद्धा जाग्रत् हुई कि वे निश्चिंत होकर मंदिर के चारों ओर घेरा डालकर बैठ गए।

उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब महमूद के तीरों ने मंदिर की ध्वजा को काट गिराया, और तब भी सोमनाथ भगवान की सर्वशक्तिमत्ता सोती ही रही। मुसलमान आगे बढ़

रहे थे। पुरोहितों के सहस्र मुख से निकले मंत्र संकट-काल की उस निस्तब्धता को मक्खियों की भिनभिनाहट की तरह अन-वरत भंग कर रहे थे। फिर भी न तो भैरव और वीरभद्र ही आए, और न दुर्गा और हनुमान् का ही कोई चिह्न वहाँ दिखाई पड़ा। सर्व शक्तिमान् मानो असहाय और निरवलंब होकर सर्व-नाश का आवाहन कर रहे हों।

क्षत्रियों की सुषुप्त चेतना, उनकी कर्तव्य-बुद्धि तब जाग्रत् हुई, और शस्त्र लेकर वे मुस्लिम हरावल पर टूट पड़े, परंतु उनके विस्मय और भय का वारापार न रहा, जब उन्होंने देखा कि शत्रु की सेना के आगे असंख्य गौओं का झुंड चला आ रहा था।

गौओं को मारे और तितर-बितर किए बिना शत्रु का नाश असंभव था। कर्सनजी से पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि गोहत्या की अपेक्षा आत्महत्या श्रेष्ठ है। भ्रष्ट-मति, कर्तव्य-विमूढ़ क्षत्रियों ने फिर कुछ न देखा, और वे भाग खड़े हुए।

महमूद मंदिर में घुस आया। हजारों हिंदू पकड़े गए। पुजारियों ने उसे लोभ दिया कि तीन करोड़ रुपए ले ले, और मूर्ति न तोड़ें। महमूद ने कहा—"मैं बुत-परस्त नहीं, बुत-शिकन हूँ।" और अपनी गदा के एक प्रहार से ही उसने मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। करोड़ों रुपए के रत्न सर्व शक्तिमान् के पोले पेट से नीचे गिर पड़े। फिर मंदिर को विध्वंस किया गया, कोष लूटा गया, और हजारों पंडे-पुजारी तथा हिंदू गुलाम बनाकर गजनी की ओर भेज दिए गए। दानवता की दुर्दांत ज्वालमालाएँ उठकर अनेक दिन तक उस निर्जन

श्मशान को बीभत्स बनाती रहीं—बनाती रहीं, मानो हिंदू-धर्म की अंध श्रद्धा की उस दिन अंत्येष्टि कर दी गई हो।

सर्व शक्तिमान् सोमनाथ के टुकड़े ग़जनी गए, और वहाँ की मसजिद तथा महमूद की अट्टालिका की सीढ़ियों में लगाए जाकर शताब्दियों तक पद-दलित होते रहे, और हमारी 'खाँड़े की धार' अपनी उस चूक को आज तक याद करती आ रही है—रोती आ रही है।

काश्मीर की कसक

ईसा की तेरहवीं शताब्दि के प्रारंभ में कपिशा के बाजारों से पिस्तों और बादामों से लदे ऊँटों का सार्थ लेकर एक तेजस्वी क्षत्रिय-युवक काश्मीर की उपत्यका में आया। हरी-भरी केसर की रँगीली क्यारियाँ, रक्तिम-गौर कपोलों और मदिर कटाक्षों से रसीली नारियों के काश्मीरी सौंदर्य ने उसे ऐसा मोह लिया कि वह शारदा-मंदिर के बगल में ही बस गया। मौजी जीव था वह रतनजू। खुरासान के खुले मैदानों में प्रकृति के सहज सौंदर्य में वह पला था। किसी प्रकार का बंधन, कैसा भी लगाव उसे पसंद न था। धर्म या ईश्वर का उसने नाम भी न सुना था। पांडवों के वंशधर कृशाश्व का प्रपौत्र होकर भी वह बचपन से असभ्य गड़रियों के साथ पला था, और उन्हीं का-सा उन्मुक्त जीवन उसे पसंद था। किंतु कभी-कभी पैतृक संस्कार उसे ईश्वर नाम धेय शक्ति को जानने के लिये प्रेरित करते रहते।

रतनजू का क्रियाशील व्यक्तित्व बहुत दिन तक काश्मीर में अकर्मण्य न रह सका। धीरे-धीरे राजा सहदेव के कानों तक उसकी रँगीली, किंतु कर्मण्य कहानियाँ जा पहुँचीं। अच्छे राजकर्मचारियों के पारखी राजा सहदेव ने उसे बुलाकर अपने मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया।

रतनजू अपने घर के पास ही शारदा-मंदिर में पंडितों के प्रवचन सुनते-सुनते गीता की ओर आकर्षित हुआ, और एक दिन अपने विगत क्षत्रियत्व की दुहाई देकर उपवीत होने के लिये मंदिर में पहुँचा, जिससे उसे भी गीता और शास्त्रों का अभ्यास करने की सुविधा प्राप्त हो सके। परंतु पंडितों ने मनु-स्मृति का श्लोक 'पौण्ड्रकाश्चौड्द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारदाः पह्लवाश्चीना......दरदाः खशाः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।' पढ़कर उसे उसकी अस्पृश्यता के कारण मंदिर में न घुसने दिया।' ऊपर से गीता के सुंदर श्लोक 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' का उल्टा अर्थ लगाकर सुना दिया कि उसे हिंदू-धर्म में दीक्षित करना भयावह होगा।

ईश्वरोन्मुख श्रद्धालु का जाग्रत् मानव इस अपमान से क्षुब्ध हो उठा, और उसने निश्चय कर लिया कि कल प्रातःकाल सबसे पहले जिस पुरुष से भी उसका सामना होगा, उसी से वह उसके धर्म की दीक्षा ले लेगा।

सूफ़ी फ़क़ीर बुलबुल शाह मस्जिद से नमाज पढ़कर लौटते समय रतनजू के घर के सामने से निकल रहे थे। खिड़की से राहगीरों की प्रतीक्षा करते हुए रतनजू की निगाह उन पर पड़ी, और उसने उन्हें बुलाकर उनसे इस्लाम की दीक्षा ले ली।

रतनजू ने इसके बाद विवाह किया, और लड़के का नाम रक्खा शाह मीर। राजा सहदेव का इसी समय देहांत हो गया, और उनकी गद्दी पर निर्वासित राजपुत्र आनंदजू ने अधिकार कर लिया। रानी कौलादेवी उस समय गर्भवती थीं। कुछ दिन बाद शाह मीर ने चिब राजपूतों की सेना एकत्र करके आनंदजू

को मार डाला, और काश्मीर के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। रानी कौलादेवी के नवजात पुत्र को भी उसने मार डाला, और रानी को जबरदस्ती अपने महल में डाल लिया। अवसर पाकर कौलादेवी ने पेट में छुरा भोंककर आत्महत्या करके अपने सतीत्व की रक्षा की। इसके बाद तो उसने अपने साथी अनेकों विप्र राजपूतों को मुसलमान बनने के लिये मजबूर किया। राज-भय, शक्ति के लोभ तथा वैभव के आकर्षण से अनेकों राजपूत मुसलमान बन गए। अपने पिता को हिंदुत्व से वंचित करने-वाले ब्राह्मणों के प्रति उसे बेहद क्रोध था। उसने उन हज़ारों ब्राह्मणों को, जिन्होंने इस्लाम स्वीकार नहीं किया था, बोरों में बंद करा-करके झेलम की धार में फिंकवा दिया। इस नृशंसता की याद दिलानेवाला वह स्थान 'बट मज़ार' आज भी श्री-नगर के कलंक की कहानी कह रहा है। साथ ही सैफ़ुद्दीन किचलू, अब्दुल्ला पंडित और रशीद अहमद सप्रू-जैसे नामक पंडितों की उस भयंकर भूल के दरदीले शूल बने हुए आज के भारत के हृदय में चुभ रहे हैं। शाह मीर के वंशज आज हमसे अलग होकर काश्मीर का बटवारा कराना चाहते हैं।

१३वीं शताब्दि की इस भूल की हमने १९वीं शताब्दि में पुनरावृत्ति की। महाराज गुलाबसिंह के पुत्र महाराज रणधीर-सिंह के समय फिर एक बार काश्मीरी मुसलमानों ने ग़रीबी और अस्पृश्यता से तंग आकर जब हिंदू होने के लिये महाराज से प्रार्थना की, तो उदार महाराज के कहने पर भी पंडितों ने उस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

इसी प्रकार कुछ वर्ष पहले एक लाख चिब राजपूतों के नौ मुस्लिम क़बीले की प्रार्थना भी अनसुनी कर दी गई, और डोंगरे उन्हें हिंदू बनाने को तैयार न हुए।

उन्हीं चिब राजपूतों का नेता सरदार मुहम्मदइब्राहीमखाँ 'आज़ाद काश्मीर' का अग्रणी नेता बना, और हमारा अपना एक अविभाज्य अंग उत्तर-पश्चिमी काश्मीर हमारे हाथ से निकल गया। हमारी धार्मिक और सामाजिक छूत-छात जो अनर्थ सदियों से करती आ रही है, उसी का अभिशाप आज का काश्मीरी पंडित भुगत रहा है। इतिहास पुनरावृत्ति करता है, कभी भूलता नहीं, कभी क्षमा नहीं करता।

अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद १३२० में भारत के भाग्य ने फिर एक बार पलटा खाया था। किंतु गुजराती पंडितों की व्यवस्था ने कई सौ वर्ष के मुसलमानी दासत्व में फिर से उसे ढकेल दिया।

खचेरो-परधार (जैनों के एक संप्रदाय का सदस्य) पाटन के बाहर एक टूटी-फूटी झोपड़ी में रहता था। अलाउद्दीन ने जब गुजरात पर आक्रमण किया, तो उसे मार्ग दिखाकर खचेरो उसकी सेना में भर्ती हो गया, और अपने परिश्रम तथा सेवा के कारण वह अलाउद्दीन के व्यक्तिगत सेवकों में प्रधान समझा जाने लगा. बादशाह उससे इतना खुश था कि एक दिन उसने खचेरो को मुसलमान बनने के लिये बाध्य किया, और कुछ दिन बाद खचेरो खुसरोख़ाँ बनकर उसकी अंगरक्षक सेना का अफ़सर नियत कर दिया गया।

अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद मलिक काफ़ूर ने जब गद्दी हथियाने का प्रयत्न किया, तो अलाउद्दीन के तीसरे लड़के मुबारक के प्राण बचाकर खुसरो भारत का प्रधान मंत्री बन गया। मुबारक खिलजी ने गद्दी पर बैठते ही उन सत्रह हज़ार क़ैदियों को छुड़वा दिया, जिनकी सिफ़ारिश खुसरोख़ाँ ने की थी। खुसरोख़ाँ के कहने से बहुत-से अत्याचार-पूर्ण कर भी

उसने उठा दिए, और व्यापार तथा संपत्ति के ऊपर लगाए गए प्रतिबंध भी नष्ट कर दिए ।

दक्षिण की विजय के बाद मुबारक ने शासन की बागडोर ख़ुसरोख़ाँ के हाथ में दे दी, और स्वयं जनानी पोशाक पहनकर बेड़नियों की फ़ौज के साथ अमीरों के यहाँ नाच-गाकर मौज करने लगा । वह सदा शराब के नशे में मदहोश रहता था । इसी बीच ख़ुसरोख़ाँ ने मलाबार का देश जीतकर दिल्ली में क़दम रक्खा । छोड़े गए सत्रह हज़ार क़ैदियों तथा क्षमा किए गए हिंदू ज़मींदारों की सहायता से ख़ुसरोख़ाँ दिल्लीश्वर बन बैठा । उसने हिंदुओं को फ़ौज में भरती करना प्रारंभ किया, और धीरे-धीरे दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया ।

गुजरात के राजा कर्ण सोलंकी की पुत्री देवलदेवी को देवगिर से हरण करके अलाउद्दीन ने अपने पुत्र ख़िज्रख़ाँ के साथ ब्याह दिया था । ख़ुसरोख़ाँ ने उसे अपनी रानी बनाने का प्रस्ताव किया । देवलदेवी ने उससे इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि वह फिर से हिंदू हो जाय । ख़ुसरो अनहिलवाड़ा और पाटन के जैन तथा ब्राह्मण पंडितों की शरण में गया, और उसने उनसे शुद्ध कर लेने की प्रार्थना की । ब्राह्मण और जैन दोनो प्रकार के पंडितों ने कहा कि स्वभावतः वह एक तो नीच जाति का है, और फिर मुसलमान भी हो चुका है । इस कारण राजा होकर भी उसे हिंदू-धर्म में दीक्षित नहीं किया जा सकता । ख़ुसरोख़ाँ अपना-सा मुँह लेकर दिल्ली लौट आया । यहाँ आकर उसने देवलदेवी को जबरदस्ती मुसलमान बनाया,

और उससे निकाह कर लिया। इसके बाद नासिरुद्दीन नाम रखकर वह दिल्ली का बादशाह बना। हज़ारों हिंदुओं को उसने तलवार के घाट उतारा। गुजरात उसके अत्याचारों से थर्रा उठा, और मलाबार का संपूर्ण तट इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गया। ग़ुलाम, परंतु वीर मुसलमानों को ऊँची पदवियाँ दीं, और इस प्रकार चार दिन की चाँदनी दिखलाकर दिल्ली में यह नौ मुस्लिम बादशाह अपने विश्वस्त साथी मुहम्मद तुग़-लक़ के हाथ से मारा गया।

हिंदू-शास्त्रियों ने फिर एक बार भयंकर भूल करके देश को गड्ढे में डाल दिया।

ऊँच-नीच का अभिशाप

दिल्ली पृथ्वीराज चौहान के हाथ से छिन गई। उसका भाग्य एक बार फिर चेता, जब वह मुग़ल-काल के विक्रमादित्य हेमचंद्र भार्गव के आधिपत्य में १५५६ ई० के लगभग आई। आदिलशाह का मीर मुंशी हेमू रिवाड़ी का एक साधारण दूकानदार था, जो अपनी बुद्धि और अध्यवसाय से धीरे-धीरे बादशाह का विश्वास-पात्र अनुचर, अर्थ-मंत्री और फिर प्रधान मंत्री तक बन गया। नमक और मिर्च की फेरी लगानेवाला दूकानदार, ब्राह्मण होकर भी, अपने पेशे के कारण बनिया कहलाता था। कुछ दिन सरकारी मोदी रहा, फिर बाजार का चौधरी बना, कुछ दिन कोतवाल रहा, और फिर मीर मुंशी। उसकी बहादुरी ने उसे आदिलशाह का सर्वस्व बना दिया। जब आदिलशाह के साथियों ने उसका साथ छोड़ दिया, तब हेमचंद्र ही उसका कर्णधार बना, और सेना एकत्र करके बनिया कहलानेवाले ब्राह्मण ने भारत का भाग्य ही पलट दिया।

२२ लड़ाइयों में एक बार भी वह कभी नहीं हारा, और न पीछे हटा। अफ़ग़ानों की बड़ी-से-बड़ी सेनाओं को लेकर दिल्ली पर जब यह बक्काल चढ़ दौड़ता, तो छोटे-छोटे पठान दाढ़ी मुड़वाने के लिये तैयार हो जाते। जो सामने खड़े रहते, उन्हें आटे-दाल का भाव मालूम हो जाता। सुंदर, वीरत्व-पूर्ण,

तेजस्वी व्यक्तित्ववाला हेमचंद्र जिस समय घोड़े पर बैठकर तलवार चलाता, तो ऐसा मालूम होता, मानो विजय सदा जय-माल लिए उसका स्वागत करने के लिये तैयार खड़ी रहती है। ताजखाँ करनिी से जब एक बार उसका इलाहाबाद के पास गंगा-तट पर सामना हुआ, तब गंगा के उस पार पड़ी हुई करनिी की सेना यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गई कि भरी हुई गंगा में घोड़े-सहित फाँदकर हेमचंद्र वीरता-पूर्वक अपनी सेना का संचालन करता दूसरी पार जा पहुँचा, और क्षण-भर में ही उसने करनिी के मँजे हुए अफ़ग़ान सैनिकों को परास्त कर दिया। आदिलशाह की मृत्यु के बाद उसने हेम-चंद्र नाम से आगरा और दिल्ली को अधीन करके चित्तौड़ के महाराणा तथा अन्य राजपूत राजाओं के पास संदेश भेजा—"देश के वीर क्षत्रिय महाराणाजी तथा अन्य माननीय नरेशो,

अभी तक मुस्लिम बादशाह के वशंवद होकर मैंने धीरे-धीरे दिल्ली के सिंहासन को हिंदू-आधिपत्य में फिर से लाने का प्रयत्न किया। मैं शासन तथा युद्ध-कला से अनभिज्ञ हूँ, तो भी इतना जानता हूँ कि जिन अफ़ग़ानों और पठानों की सहायता से अब तक मुझे विजय प्राप्त हुई है, वे भारत-निवासी होते हुए भी तभी तक मेरे साथ हैं, जब तक हुमायूँ फिर से भारत पर आक्र-मण नहीं करता। विदेशी मुसलमानों के आते ही ये मुसलमान भी उनका साथ देंगे, और देश-द्रोह करने से बाज न आएँगे। इसलिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुग़लों के आक्रमण होने से पहले ही भारत की रक्षा के लिये आप इसी प्रकार फिर एक-

बार संगठित हो जायँ, जिस प्रकार सम्राट् विक्रमादित्य के समय महाकवि कालिदास के प्रयत्न से सारा देश संगठित हुआ था। अथवा जिस प्रकार बाबर के विरुद्ध महाराणा साँगा की वीर-वाहिनी का साथ देश के सभी राजा-महाराजाओं ने दिया था। मैं सहर्ष दिल्ली का अधिकार आपके हाथ में सौंपने के लिये तैयार हूँ।"

मूर्ख राजपूत राजाओं ने हेमचंद्र के पत्र का जो उत्तर दिया, वह हिंदू-जाति के इतिहास में उन ठाकुरों की दुर्बुद्धि और असहिष्णुता का परम प्रतीक बनकर रह गया। उन्होंने लिखा—"ऐ नीच बनिए, हम लोगों के रहते तुझे दिल्ली पर अधिकार करने का क्या हक़ था। तराज़ू-बाँट तौलनेवाला तू गधे पर सामान ले जाकर बेचने के सिवा राज्य करने का अधिकार कब से पा गया? तेरी यह मजाल कि हम क्षत्रियों के सामने मुँह खोलकर बात करता है। हम तुझसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहते। तू जा, और नरक में पड़, क्योंकि तूने धर्म का उल्लंघन किया है। हम तेरी कोई सहायता नहीं कर सकते।"

अपने समकालीन हिंदू-राजाओं के इस उत्तर को पाकर भी साहसी हेमू विचलित न हुआ, और हेमचंद्र-विक्रमादित्य नाम रखकर वह दिल्ली का शासन चलाने लगा।

सन् १५५६ में उसने बड़ी बहादुरी से पानीपत के मैदान में अकबर के सेनापति बैरमख़ाँ का मुक़ाबला किया, और जब उसकी सेना के सब पठान भाग खड़े हुए, तथा मुग़लों से जा मिले, तब यह बहादुर बनिया अकेला ही हाथी पर सवार रण-

क्षेत्र में डटा रहा, और अंत में जब तीर से उसकी आँख घायल हुई, और वह बेहोश हो गया, तो उसका स्वामिभक्त हाथी उसे रण-क्षेत्र से ले भागा। दूर जंगल में मुग़ल-सेना ने उसे गिरफ्तार किया। बैरमख़ाँ ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार भारत की स्वतंत्रता का अंतिम स्वप्न हिंदुओं की आपसी फूट, जातिगत विद्वेष, राजपूती घमंड तथा विश्वासघात-पूर्ण देश-द्रोह के कारण एक बार फिर सदा के लिये नष्ट हो गया।

नदिया के भ्रांत भट्टाचार्य

१३वीं शताब्दि के अंत में ग़यासुद्दीन बंगाल का बादशाह था। फ़ारसी कवि हाफ़िज़ का वह मित्र और संरक्षक था। अपने धर्मपरायण और दयालु पिता की उदारता का अनुचित लाभ उठाकर अपने पिता की हत्या करा दी, और सिंहासन पर अधिकार करके अपने सोलह भाइयों की आँखें निकलवा लीं। राक्षसी क्रूरता की यह सजीव मूर्ति १६ वर्ष तक राज्य करके अपने ही साथियों द्वारा अपघात मृत्यु से मार दी गई। इसके बाद दो और निर्बल बादशाह सैफ़ुद्दीन और शम्सुद्दीन गद्दी पर बैठे, और सन् १४०५ तक राज्य करके मर गए। सन् १४०५ ईसवी में राजशाही ज़िले में वारेंद्रनगर के जमींदार राजा कंसनारायण ने बंगाल की राजधानी गौड़ पर आक्रमण करके उस पर अपना अधिकार कर लिया।

मुसलमानों के क्रूर शासन से तंग आए हुए हिंदुओं ने राजा कंस के नेतृत्व में वंग व्यापी संगठन करके विद्रोह किया था। ग़यासुद्दीन की क्रूर कथाओं ने वर्षों से बंगालियों को इस विधर्मी शासन के विरुद्ध उभाड़ रक्खा था। शीघ्र ही सारे बंगाल पर राजा कंसनारायण का शासन स्थापित हो गया।

इसी बीच कई मुस्लिम फ़क़ीरों और दरवेशों ने बंगाल के विदेशी मुसलमानों को 'जेहाद' के लिये उकसाया, और

विद्रोह की आग भड़काना प्रारंभ किया। इस पर राजा कंस ने विद्रोही नेता शेख बदरुल इस्लाम को मृत्यु-दंड दिया, और अन्य विद्रोही मुल्लाओं को नाव में भरवा कर गंगा में फिकवा दिया। कुछ दिन मुसलमान शांत रहे। फिर नूर कुतुबुल आलम ने पत्र लिखकर जौनपुर के नवाब इब्राहीम शर्की को बंगाल पर चढ़ाई करने के लिये निमंत्रण दिया। बंगाली मुसलमान सभी परदेसी थे। उन्होंने परदेसियों का ही साथ दिया। राजा कंस की सेनाएँ हार गईं, और उन्हें गद्दी छोड़कर भाग जाना पड़ा। भागते समय राजा का सात वर्ष का बेटा नूरकुतुबुलआलम के हाथ आ गया। उसके मुँह में अपने मुँह का जूठा पान देकर कुतुब ने उसे मुसलमान घोषित करके गद्दी पर बैठा दिया। जौनपुरी इब्राहीम और कुतुबुल-आलम में इस पर कहा-सुनी भी हो गई, परंतु इब्राहीम को मुँह की खाकर जौनपुर लौट जाना पड़ा। कुतुब राज्य की बागडोर हाथ में लेकर बालक बादशाह जलालुद्दीन की ओर से शासन चलाने लगा।

कुछ दिन बाद इब्राहीम शर्की मर गया, और राजा कंस-नारायण ने भी छिपे-छिपे फिर सैन्य-संग्रह करके बंगाल पर अधिकार कर लिया।

तब राजा कंस ने बंगाल के शत्रु मुसलमान फ़क़ीरों को पर्याप्त दंड दिया, और सात वर्ष तक निष्कंटक राज्य किया। राज्य वापस पाकर कंस ने पंचगव्य, गंगाजल, तुलसीदल और यज्ञादि के प्रभाव से पुत्र को प्रायश्चित्त कराया, और सोने की

अनेकों गाएँ बनवाकर उनके उदर में से पुत्र को प्रसव करवाया, और वह सोना पंडितों को बँटवा दिया, जिससे बंगाली हिंदू उसके आपत् कालीन स्खलन को क्षमा करके उसे फिर से गद्दी का हक़दार मानने को प्रस्तुत हो जायँ। किंतु नवद्वीप और उत्तर पाड़ा के पंडितों ने उसके यौवराज्य को स्वीकार न करने की व्यवस्था दे दी। मृत्यु के समय फिर एक बार उन्होंने पंडितों से कहा—

"पूज्य विद्वान् ब्राह्मणो,

बड़े प्रयत्न और बंगालियों के २५ वर्ष के सतत बलिदान से एक बार फिर बंगदेश स्वतंत्र होकर हिंदू-शासन के अधिकार में आया है। सारे देश के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समाज ने उसके निर्माण में सहयोग दिया है। सात वर्ष की अवस्था में व्याज-मात्र से मुसलमान घोषित किया गया मेरा यह एकमात्र पुत्र ही मेरा उत्तराधिकारी है, उसे पर्याप्त रूप से प्रायश्चित्त भी मैंने करा दिया है। अब आप उसे ही राज्य का अधिकारी, हिंदू राजा होने की अनुमति दें।"

पंडितों ने सोचकर व्यवस्था देने को कहा, और बाद में स्वार्थी लोगों के कहने में पड़कर विरुद्ध व्यवस्था ही दी। राजा कंस का देहांत हो गया, और परस्पर असंगठित हिंदू नेता के अभाव में वे कुछ न कर सके। युवराज शेषनारायण ने समाज और पंडितों की अन्याय-नीति से चिढ़कर फिर इस्लाम स्वीकार किया, और मुसलमानों की सहायता से जलालुद्दीन, अब्दुल मुजफ्फ़र, मुहम्मदशाह बनकर सोलह वर्ष तक बंगाल पर राज्य किया,

तथा जिन-जिन व्यक्तियों को प्रायश्चित्त की स्वर्ण-गौओं का सोना मिला था, उन्हें गोमांस खिलाकर मुसलमान बनाया। हज़ारों बंगाली ब्राह्मण उसके राज्य में मुसलमान बनाए गए, इस प्रकार बंगाली पंडितों ने बंगाल के हिंदू-राज्य की अंत्येष्टि-क्रिया की!

हिंदू-धर्म-शास्त्रियों के अव्यावहारिक शास्त्र-ज्ञान के कारण भारतीय इतिहास की धारा और भी कई बार ऐसे ही अनिष्ट-कारी मार्ग की ओर मोड़ दी गई कि देश के विभिन्न भू-भागों पर विदेशी तथा विधर्मी सत्ता का राज्य सैकड़ों वर्ष के लिये जम गया। इन विदेशियों ने न केवल देश पर ही राज्य किया, अपितु अपनी अनियंत्रित दानवी क्रूरता से धर्म-परिवर्तन का वह चक्र भी चलाया, जिसने काश्मीर, पूर्वी बंगाल, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, सौराष्ट्र आदि में पांचवें वर्ण की सृष्टि करके भारत-विमुख भारतीय संस्कृति के शत्रुओं की संख्या भी बढ़ा दी। शताब्दियों तक हमारी धार्मिक अनुदारता ने हमें दासत्व की शृंखला में बाँधकर रक्खा। हिंदू-धर्म की उदार गोद से बाहर जाने का दरवाज़ा तो हमने खुला रक्खा, पर आने का द्वार मज़-बूत साँकल लगाकर बंद कर दिया, जिसका परिणाम १० करोड़ हिंदुओं को विधर्मी बनाना हुआ। इतिहास के इन अविस्मरणीय पृष्ठों से आज भी हमें शिक्षा लेनी चाहिए, जिससे अखंड भारत के खंड हो जाने के बाद भी फिर और उपखंड न हो जायँ।

★

पूर्वी पाकिस्तान के निर्माता : काशी के पंडित

उड़ीसा के संभ्रांत ब्राह्मण-कुल का युवक कालीचंद्र महंती महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर ढाका में कई दिन से काम की खोज कर रहा था। दिन-भर वह बाजारों, कोठियों और राज-घरानों की देहलियाँ नापता, और शाम को थककर सराय में पड़-कर सो रहता। नित्य-कर्म से निबटने पर वह प्रतिदिन प्रातः-काल ढाकेश्वरी के तट पर जाया करता, और पूजा-पाठ में रत रहता। उसका सुडौल, गौर शरीर, उन्नत ललाट, कुंचित केश-राशि तथा तेजस्विनी मुख-मुद्रा जो देखता, आकर्षित हो उठता। नदी-तट पर जाते समय उसे ढाका के नवाबी राजप्रासाद के सामने से गुजरना पड़ता था। संयोग-वश एक दिन नवाब की बेटी उस पर निछावर हो गई। रास्ते से जाते हुए कालीचंद्र को वह अपना हृदय दे बैठी।

बेख़बर कालीचंद्र चला गया, और तुरंत ही दो घंटे बाद राजकन्या के आदेश से महल में बुलाया गया। उसी दिन उसकी नियुक्ति नवाबी सेना में हो गई। धीरे-धीरे यह प्रेम की बात नवाब तक पहुँची। इकलौती संतान के मोह की गहराई ने नवाब की धार्मिक असहिष्णुता पर विजय पाई, और जब नवाब-नंदिनी किसी तरह इस प्रेम-पथ से विमुख न हुई, तो उसे स्वीकृति देनी ही पड़ी। नवाब ने कालीचंद्र को बुलाकर विवाह का प्रस्ताव किया।

ब्राह्मण युवक मुसलमान लड़की से विवाह करने के लिये उद्यत न हुआ। नवाब ने कन्या के जीवन पर मजहब को भी निछावर करने की ठान ली, और उसे हिंदू बनाकर विवाह कर लेने के लिये कालीचंद्र से कहा।

कालीचंद्र ने नवद्वीप के पंडितों से व्यवस्था माँगी। धर्माध्यक्ष इस मत-परिवर्तन के लिये सहमत न हुए। विशाल, उदार हिंदुत्व का फाटक उन्होंने मजबूती से बंद कर लिया। दो प्रणयी हृदय उसके नोकीले किवाड़ों पर कीलों में बिधकर रह गए। नवाब ने समस्या का फिर हल निकाला। कालीचंद्र से उसने मुसलमान हो जाने का अनुरोध किया, परंतु ब्राह्मण के जन्म-जन्मांतर के संचित संस्कार इसके लिये तैयार न हुए। कालीचंद्र ने धर्म-परिवर्तन से इंकार कर दिया। नवाब को आश्चर्य हुआ। बोला—"जब मेरी कन्या हिंदू होकर तुम्हारे साथ विवाह करने के लिये तैयार थी, तब तुम क्यों नहीं उसके मजहब को स्वीकार कर लेते? क्या तुम उसके समान त्याग करने को तैयार नहीं?"

कालीचंद्र ने निर्भीकता-पूर्वक उत्तर दिया—"मैं यवन बनकर कलंकित नहीं होना चाहता।"

नवाब के आत्मसम्मान को ठेस लगी, और उसने कालीचंद्र के क़त्ल की आज्ञा दे दी।

वध-स्थल पर कालीचंद्र जल्लाद की तलवार की प्रतीक्षा कर रहा था कि एकाएक राजकन्या सामने आ खड़ी हुई। नवाब के पाँव पड़कर उसने कहा—"अब्बाजान, मेरे क़सूर की सजा

आप इन्हें दे रहे हैं। मेरी वजह से इन्हें यह मुसीबत उठानी पड़ रही है। सज़ा तो मुझे मिलनी चाहिए। मेरा दिल तोड़ने के बजाय आप मेरा सिर काट लीजिए, वर्ना इन्हें छोड़ दीजिए। अगर इनका बाल भी बाँका हुआ, तो यहीं सिर पटककर मर जाऊँगी।"

हिंदू-सती के समान पति-परायणा उस राजकन्या की पति-भक्ति ने युवक के धर्म-भक्त हृदय को भी पिघला दिया, और उसने उस मुसलमान युवती से बिना धर्म-परिवर्तन किए ही विवाह की अनुमति दे दी। नवाब ने दोनो का विवाह कर दिया।

युवक कालीचंद्र अपनी पत्नी को लेकर घर गया, किंतु उसके पंडित पिता ने उसे घर में नहीं घुसने दिया। तड़पती मा से मिलने की भी अनुमति उसे नहीं दी गई। अलग मकान लेकर रहने पर भी उसे गाँव की पुष्करिणी में स्नान और पान की सुविधा नहीं दी गई। दैनिक देव-पूजा उसका नैष्ठिक अनुष्ठान भी उससे छीन लिया गया।

धर्म-गुरुओं की इस संकीर्णता से क्षुब्ध होकर वह नवद्वीप, काशी तथा वृंदावन तक अपनी पत्नी को लेकर घूम आया—कहीं भी विशाल और उदार कहलानेवाले हिंदुत्व की गोद में उसे जगह न मिली। कोई पंडित उन दोनो की शुद्धि करनेवाला न मिला। तब जिन पापनाशन जगन्नाथ की शरण में आने पर उसने सुना था, जाति और जन्म का, छूत और अछूत का भेद नहीं रहता, कालीचंद्र वहीं पत्नी को लेकर पहुँचा। उसने सोचा था कि महान् जगन्नाथ के पवित्र चरणों में प्रणाम करके वह

और उसकी पत्नी शुद्ध हो जायँगे, परंतु वहाँ भी उसे धक्के और गालियाँ ही मिलीं। पंडों ने दर्शन तक न करने दिए।

ऐसे संकीर्ण विचारों के प्रति पंडितों द्वारा किए गए अपमान ने कालीचंद्र के हृदय में प्रतिहिंसा के भाव जगा दिए। उसके भीतर छिपा दानव जाग उठा। ढाका लौटकर उसने कलमा पढ़ लिया, और काला पहाड़ की तलवार हिंदू-जाति के गले पर जिस नृशंसता से चली है, वह आज भी हृदय को हिला देती है। पूर्वी बंगाल की अधिकांश मुस्लिम आबादी कालीचंद्र की प्रतिहिंसा का ही परिणाम है। पूर्वी पाकिस्तान के निर्माता नवद्वीप और काशी के संकीर्ण पंडित हैं।

चौके ने चौपट किया !

सन् १७६१ की वह साँझ अहमदशाह अब्दाली के पठान सिपाहियों के लिये काल बनकर आई थी, जिस दिन महा सेना-पति सदाशिव भाऊ के वीर मराठा सैनिकों ने पानीपत के मैदान में उन्हें पहली करारी पराजय दी थी। रण-क्षेत्र हताहतों से भरा पड़ा था, और अब्दाली अपने खेमे में आँसू बहा रहा था। हिंदुओं की तलवार ने उसे वे लोहे के चने चबवाए थे कि अब्दाली के दाँत टूट गए थे। युगों से पद-दलित हिंदू, जो सैकड़ों बरस से मुसलमान शासकों का दासत्व करता आ रहा था, कुछ ही दिनों के स्वराज्य में इतना आत्मनिर्भर और निडर बन गया था कि उस दिन उसने अब्दाली-जैसे सूरमा की तलवार कुंठित कर दी थी। हिंदोस्तान को विजित करने के उसके सब इरादे ठंडे पड़ गए, और पहले मोर्चे से ही पराजय का अपयश लेकर उसे भागने की चिंता हो रही थी। किसी तरह घर सकुशल जा पहुँचे, बस, यही वह सोच रहा था। घबराकर वह खेमे से बाहर निकल आया। रात्रि के घनीभूत अंधकार में आकाश की काली चादर के नीचे घुटने टेककर बैठ गया, और भगवान् से प्रार्थना करने लगा—"या परवरदिगार, रहम कर, और हिफ़ाजत से घर पहुँचा। तौबा है, अगर फिर ग़लती से भी इन काफ़िरों के मुल्क की तरफ़ नजर करूँ।" दुआ करने से

उसे कुछ ढाड़स बँधा, और लौटने का निश्चय करके वह उठ खड़ा हुआ।

दुःख की लंबी उसाँस उसने अभी छोड़ी ही थी कि उसकी आँखों ने एक विचित्र लपटों की नगरी मराठा-छावनी में देखी। सहस्रों अग्नि-शिखाएँ छोटे-छोटे घरौंदों से अपनी छोटी-छोटी निर्ज्योति जिह्वाएँ लपलपा रही थीं, भूखे अग्निदेव मानो भोजन के लिये लालायित जीभ लोलायित कर रहे हों। अंध-विश्वासी अब्दाली उस दृश्य को देखकर डर गया, और एक बूढ़े पठान सर-दार के खेमे में जाकर बोला—"चाचा, भागो। शैतान की फ़ौज मशालें लिए हमें नेस्त-नाबूद करने चली आ रही है ! यह देखो ! सामने ही मराठों की छावनी की वह हिफ़ाजत कर रही है।"

बूढ़ा गुलसैयद, जिसने अनेक बार हिंदोस्तान की चढ़ा-इयों में तलवार चलाई थी, हँस पड़ा। बोला—"शाहे मिल्लत ! यह शैतान की फ़ौज नहीं, बल्कि शैतान के बच्चों की फ़ौज है, जो अलहदा-अलहदा चूल्हों पर खाना पका रही है। रोशनी उन हजारों चूल्हों की है, जिन पर हरएक हिंदू अपना-अपना खाना बना रहा है। ये लोग एक दूसरे को नापाक समझते हैं, और कोई किसी का छूआ खाना नहीं खाता। सदियों से इनका यही रिवाज बन गया है। हालाँकि पहले यह बात न थी, लेकिन जब से ये अलग-अलग देवी-देवता पूजने लगे, और एक-दूसरे से नफ़रत करने लगे, तभी से यह बात भी शुरू हुई।"

अब्दाली गंभीर हो गया। "जब इतना भेद-भाव इन प्रत्येक में है, तब इन्हें जीतना कोई कठिन बात नहीं। जाटों,

राजपूतों, सिखों और पुरबियों की टुकड़ियों में फूट की आग भड़काकर उन्हें मराठों से फोड़ा जा सकता है, और स्वयं मराठों में होलकर, भोंसले, सिंधिया, गायकवाड़ वग़ैरा को भी एक दूसरे के ख़िलाफ़ भड़काया जा सकता है। विजय मेरी होगी।" वह प्रसन्न होकर लौट गया।

तुरंत मंत्रणा करके उसने अपने विश्वस्त दूतों द्वारा अपनी योजना को कार्य-रूप में परिणत कर लिया, और देश के दुर्भाग्य-चिह्न 'नौ कनौजिया, दस चूल्हे' की आड़ में कई हिंदू-सरदार खिसक गए। रात में ही हमला बोल दिया गया।

सिपहसालार हैरान था कि कहीं अब्दाली का दिमाग़ तो नहीं फिर गया, जो हारी-थकी फ़ौज को रात में फिर लड़ने को कहता है, परंतु जब अहमदशाह ने बताया कि मराठे और हिंदू अलग-अलग चूल्हों की बनी रोटी अलग-अलग लकीरों के घेरों में बंद होकर खाते हैं, और इकट्ठे बैठकर खाना उनके यहाँ बुरी बात समझी जाती है, तब उसकी समझ में आया कि उन्हें हराना कोई बड़ी बात न होगी। रोटी की अनेकता ने, चूल्हों की भिन्नता ने, उस रात हिंदुओं के उदीयमान राष्ट्र के भाग्य का निबटारा कर दिया। हिंदू-सेना रोटी के चक्कर में ऐसी फँसी थी कि उस अचानक आक्रमण का सामना न कर सकी, और बुरी तरह हार गई। महाराष्ट्र में तो कोई घर न बचा था, जिसका कोई-न-कोई आदमी मारा न गया हो। पानी-पत की इस तीसरी लड़ाई ने मराठा-साम्राज्य की कमर तोड़ दी।

★

गोआ कैसे खोया ?

गोआ पर शासन करनेवाली पुर्तगाल की सालाजार सरकार ने हमारे देश के शांत रक्त को बहाकर, निहत्थे अहिंसात्मक सत्याग्रहियों पर गोली चलाकर जहाँ प्रेम और सत्य के पुजारी ईसा की कीर्ति को कलंक लगाया है, वहाँ इतिहास के उन काले कारनामों को फिर दुहराया है—जिनके द्वारा भारत में जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन कराया गया। गोआ के पुर्तगाली पादरी अत्याचारी औरंगजेब से बढ़कर तो थे ही, अब वे डायर को भी मात करनेवाले सिद्ध हुए हैं। गोआ ईसाई कैसे बना—इसका बड़ा मनोरंजक इतिहास है, उसमें न केवल पुर्तगाली पादरियों के अत्याचार ही कारण थे, अपितु हिंदू-समाज की तात्कालिक कमजोरियाँ भी बहुत बड़ा कारण थीं।

गोआ के बसई परगने में हिंदुओं का एक विशाल मंदिर था, जिसे मंडपेश्वर का मंदिर कहते थे। उसके शिवलिंग की महिमा अपार कही जाती थी। सोमनाथ के शिवजी के अंधविश्वासी पुजारियों की तरहवाले गोआ के पुजारी मंडपेश्वर के अधिष्ठाता शिव को सर्वशक्तिमान् समझते थे। उच्च वर्ण के हिंदू ही मंदिर में पूजा के लिये जा पाते थे, यद्यपि आस-पास के प्रदेश में शूद्रों की संख्या उनसे ८० गुनी थी। शूद्र हिंदू इन सर्वशक्तिमान् के दर्शन से वंचित था। बीमारी-हारी में

उसे केवल बाहर की सीढ़ियों पर ही मत्था टेककर संतोष कर लेना पड़ता था। भगवान् के दरबार में उसकी पुकार पुजारी तथा ब्राह्मण दलालों के जरिए ही पहुँच पाती थी, जिसके लिये मोटी रिश्वत और वह भी खीर-पूरी के तर माल के साथ देनी पड़ती थी। इस पर भी अंधविश्वासी हिंदू सर्व-शक्तिमान् की महती शक्ति पर श्रद्धा रखता था, और उसे विश्वास था कि आड़े समय में वह उसकी रक्षा अवश्य करेंगे। इसीलिये अपनी खेती की उपज का कुछ चावल प्रत्येक शूद्र किसान मंदिर के भंडार में खुशी से देता था। तीन हज़ार मन चावल इस प्रकार प्रतिवर्ष मंदिर के भंडार में इन शूद्रों की श्रद्धा के शुल्क-स्वरूप पहुँचता था। ब्राह्मण देवता उसे खाते एवं मौज उड़ाते थे, और समय-समय पर अपने इन अपढ़ यजमानों को दैवी शक्ति का कोप दिखाकर नाक-भौं सिकोड़ते, नरक में डालते और उनकी बहू-बेटियों के साथ बलात्कार भी करते थे। कैसी विडंबना थी कि शूद्र पुरुष और बूढ़ी औरत तो मंदिर में जाने न पाते थे, परंतु शूद्र युवतियाँ साल-भर सर्वशक्तिमान् के सिंहासन-तले नैश केलि के लिये प्रतिदिन इन ब्राह्मण पुजारियों के निर्मम हाथों द्वारा सुहागरात की कुसुम-कलिकाओं के समान मसल डाली जाती और प्रातःकाल भगवान् के दर्शन कराकर शुद्ध कर दी जाती थीं—जिससे उनके घरवालों के लिये ग्राह्य हो सकें।

मंदिर में संस्कृत पाठशाला भी थी, जिसमें केवल ब्राह्मणों के लड़के ही शास्त्र पढ़ सकते थे। पाठशाला के लिये बड़ी

जागीर लगी हुई थी। यह जागीर भी शूद्रों द्वारा ही दान में दी गई थी, क्योंकि ब्राह्मण तो हाथ की मेहनत करना हराम समझकर भूमि से कोई संबंध न रखते थे, और सदा आसमान में ही उड़ना धर्म समझते थे। हाँ, शूद्र की कमाई और उसकी संपत्ति को अपनी जायदाद वे अवश्य समझते थे। शूद्र युवती उनके लिये अस्पृश्य न थी।

यह थी गोआ के आस-पास की दशा। जब सन् १४३४ में "एंटोनियो पोर्टो"-नामक पुर्तगाली पादरी विलायती फ़ौज लेकर पोप की आज्ञानुसार गोआ आया, उसे गोआ का धर्माधिकारी नियुक्त किया गया था। आते ही उसके सैनिकों ने वसई के आस-पास के हिंदुओं को जबर्दस्ती ईसाई बनाना आरंभ किया। जिन्होंने इंकार किया, उन्हें गोली मार दी। हजार वर्ष पुरानी कान्हेरी की गुफाओं में रहनेवाले हिंदू साधुओं को बंदूक के ज़ोर से ईसाई बनाया गया, और गुफाओं में बने हुए प्रसिद्ध तथा दर्शनीय कैलास मंदिर को 'सेंट माइकेल' के मठ में परिवर्तित कर दिया गया। ये गुफाएँ आज भी नासिक से १८ मील पर खड़ी हुई अपनी इस करुण कहानी को सुना रही हैं।

मंडपेश्वर के उपर्युक्त सर्वशक्तिमान् पर भी पोर्टो की क्रूर दृष्टि पड़ी। हजारों की संख्या में शूद्र किसान उसकी रक्षा के लिये शस्त्र लेकर खड़े हुए। परंतु अभिमानी पुजारियों ने उन्हें भगा दिया, और कहा कि सर्वशक्तिमान् को शूद्रों के हथियारों की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं समर्थ हैं। परंतु ज्यों

ही पोर्टो के सैनिक मंदिर में घुसे, ये कायर ब्राह्मण सर्वशक्ति-मान् को असहाय छोड़कर अपने प्राण लेकर भाग गए, और बाहर पकड़े गए, तथा तुरंत ईसाई बन गए। सर्व शक्तिमान् को 'फादर पोर्टो' ने बड़े निरादर-पूर्वक पाँव-तले रौंदा, और फिर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। मंदिर को ईसाई-मठ बनाया गया, और संस्कृत पाठशाला को मिशन-स्कूल।

सर्वशक्तिमान् की इस दयनीय दुर्बलता और ब्राह्मणों की कायरता तथा संकीर्णता का सारा पर्दा खुल गया। मूर्ति-पूजा के इस खोखलेपन और ब्राह्मणों के मिथ्या भाषण के कारण शूद्र जनता को विश्वास हो गया कि ब्राह्मणों के सर्वशक्तिमान् अशक्त थे, और ब्राह्मणों का बताया हुआ वह पोंगा पंथ केवल एक ढकोसला था, जिसकी आड़ में ये स्वार्थी अपना उल्लू सीधा किया करते थे। धड़ाधड़ हज़ारों शूद्र-परिवार ईसाई-मत में दीक्षित हो गए, और गोआ के वर्तमान ईसाई निवा-सियों के पुरखा बने।

पुर्तगाल के राजा 'जॉन तृतीय' ने मंडपेश्वर-मंदिर की जागीर इस ईसाई-मठ में लगा दी। मिशन-स्कूल का व्यय भी इसी जागीर से और ३००० मन चावल की वार्षिक आय से चलने लगा। ईसाई-परिवारों के लड़के बिना जाति-पाँति के विचार के उसमें हज़ारों की संख्या में भर्ती होकर पादरी बनने लगे। चावल के लोभ से ग़रीब हिंदू अपने बच्चे पाठशाला को दान दे जाते थे, और अनाथ हिंदू बच्चे तो सैकड़ों की संख्या में पोर्टो द्वारा उसमें भेजे गए। इस प्रकार हज़ारों ईसाई

इस पाठशाला द्वारा पढ़कर पादरी बने और भारत में ईसाइयत के प्रचारक हुए ।

राष्ट्रीय हिंदुत्व इस अपमान को भूला नहीं । छ मराठों के नेतृत्व में इस मंदिर को पुर्तगालियों से छीन लिया गया । और फिर से देव-मंदिर में परिवर्तित करके उसे राष्ट्र-सेवकों का केंद्र बनाया गया ।

गोआ का बाकी प्रदेश भी हम एक दिन इसी तरह लेकर रहेंगे । गोआ-सरकार का वर्तमान रवैया, उसकी दुरभिसंधि उसे स्वयं समाप्त कर देगी । समय की पुकार को जो नहीं सुनता, और सुनकर भी जो उस पर नहीं चलता, वह काल के गाल में जाता ही है । पुर्तगाली विदेशी सरकार भारत के एक बित्ते-भर जमीन पर भी बैठी नहीं रह सकती, उसे गोआ छोड़कर जाना ही पड़ेगा ।

शिवाजी की सीख जब हमने भुलाई !

ओरछा में, चतुर्भुज-मंदिर की छाया में, बेतवा-तट पर, दो छोटी झोपड़ियों में हम्मीरसिंह और रहमान रहते थे। हम्मीर ओरछा-नरेश की सेना का सिपाही बुंदेला ठाकुर था, स्त्री मर चुकी थी। कन्या मदनकुँअरि १० बरस की भोली-भाली लड़की थी। वह चंचल, अल्हड़ परम सुंदरी और कोकिल-कंठी। रहमान गवैया था। दरबार में गाता और सभाओं में भी। फागें गाना उसे बहुत पसंद है। हम्मीर को संगीत और वाद्य सुनने का शौक था। रहमान उसका मित्र था। शाम को जमात जमती। दोनों मित्र आनंद से संगीत-विभोर हो समय काटते, लड़की मदनकुँअरि भी गाने की शौकीन हो चली थी। उस्ताद रहमान ने शादी नहीं की थी। संगीत ही उसकी प्रेयसी थी, बड़ा दयार्द्र और कोमल हृदय का भावुक बुड्ढा था रहमान। बेतवा के दूसरे तट पर एक दिन आसन्न प्रसवा गाय पर सिंह ने आक्रमण किया। गाय का आर्त नाद जंगल में गूँज उठा। हम्मीरसिंह उस समय नदी-तट पर हाथ-मुँह धो रहा था—एकदम दौड़ा, और लाठी लेकर शेर पर झपटा। बहादुर ठाकुर ने गाय को छुड़ा लिया, और शेर को मार डाला। वह घायल होकर घर आया, किंतु सुबह ही मर गया। मरने से पहले रहमान पर लड़की के पालन-पोषण का भार सौंप गया। जाति के लोग उससे संपर्क न रखते

थे, क्योंकि उसने प्रेम के वशीभूत होकर सुंदर खंगार क्षत्रिय-कन्या से विवाह किया था, और बिरादरी से बंद था।

लड़की रहमान की देख-रेख में बढ़ चली, पढ़ती और संगीत भी सीखती। रहमान को वह दादा कहती और वह भी उसे बेटी कहता। दोनों का संसार हंसता-खेलता था। १५ साल की मदनकुँअरि यौवन की मस्ती के उभार और अपने अल्हड़पन के कारण मुहल्ले में 'मस्तानी' के नाम से पुकारी जाने लगी। रूप के लोभी बुंदेले छोकरे उससे छेड़-छाड़ करते, तो वह उन्हें कभी-कभी दुरुस्त भी करती। एक दिन राजा पहाड़सिंह के छोटे कुँवर ने, शिकार से लौटते समय, मदनकुँअरि को नदी में नहाते देखा। वह उसके रूप का प्यासा हो उठा। खवास से उसने अपना अनुचित प्रस्ताव भिजवाया, और धमकी भी। सुनकर लड़की घबराई। बचने का कोई उपाय न देख रहमान से कहा। बूढ़े रहमान ने सोचा, जब राजा का लड़का ही खाने पर उतारू है, तो वह कहाँ जाय। रात के अँधेरे में ही ऊँटनी पर सब छोटी-सी गृहस्थी लादकर, लड़की को ले निकल पड़ा ओरछा से। रातोंरात जंगल और बेतवा पार करके मीलों निकल गए। वीर शिरोमणि महाराज छत्रसाल के दरबार में आकर अपने संगीत से उन्हें रहमान ने प्रसन्न किया, और राजकीय गवैए की नौकरी पा ली। लड़की के विवाह की चिंता उसे सवार थी। अनेक जगह यत्न किया—कोई बुंदेला लड़का न मिला। मुसलमान के अभिभावकत्व में पली लड़की कौन लेता? तंग आकर रहमान ने उसे काव्य-संगीत की शिक्षा भी देना प्रारंभ की।

महाराज के कृपा-पूर्ण व्यवहार से उसे आशा थी कि महाराज लड़की को भी दरबार की गायिका का काम देंगे, और उनके वयोवृद्ध, किंतु पितृतुल्य दरबार में अपनी जवानी के दिन वह इज्जत से काट देगी। लड़की की निपुणता की परीक्षा ली गई, और वह पास हो गई। विशिष्ट अवसरों पर तथा महारानी के मनोरंजनार्थ उसे दरबारी गायिका नियुक्त किया गया।

एकाएक युद्ध करने के लिये महाराज और समस्त सामंत-गण जैतपुर चले गए। मुहम्मदशाह बंगश का भयंकर आक्रमण देश पर हुआ था। सुना गया था, महाराज ने बाजीराव पेशवा को पत्र लिखकर सहायतार्थ बुलाया भी था। रहमान महाराज के साथ ही गया था। मदन महेवा में ही महारानी के पास थी। युद्ध की भयंकर खबरें नित्य आतीं, जिन्हें सुनकर महारानी बेहद चिंतित थीं।

महारानी की अनुमति लेकर मदन एक दिन कालिंजर की ओर ठीक समाचार जानने के लिये चली। साथ में दो घुड़-सवार भी थे। नदी के उस पार घाटी पर चढ़ते समय शेर सामने से निकला। लड़की ने फ़ौरन् बंदूक का निशाना ठीक करके गोली चलाई। शेर दहाड़ा और उछला। एक ही छलाँग में वह घोड़े पर आ रहा था कि मस्तानी घोड़े से कूदकर तल-वार लेकर झपटी, और एक ही वार में शेर को मार डाला। २२-२३ साल के छरहरे, गोरे रंग के एक प्रभावशाली युवक ने, जो अपने साथियों के साथ शेर का पीछा करता हुआ जंगल से आ रहा था, लड़की को देखा और मरे हुए शेर को भी।

लड़की के सौंदर्य, शौर्य तथा साहस से वह युवक बड़ा प्रभावित हुआ। घोड़ा मर चुका था। अपने साथी का घोड़ा युवक ने लड़की को दिला दिया, और पूछा कि कहाँ जा रही हो ? यह जानकर उसे खुशी हुई कि वह भी जैतपुर ही जा रही है। युवक अपने सैन्य-शिविर को लौट गया। लड़की रास्ते पर चली। पहले कालिंजर पहुँचकर उसने रहमान को ढूँढ़ा, और उसके घर पर ही ठहरी। मालूम हुआ, आज भयंकर युद्ध के लिये महाराज अपने सभी पुत्रों तथा पेशवा की सेना के साथ जैतपुर गए हैं। घमासान युद्ध होगा। कई दिन बाद खबर आई कि महाराज की जीत हुई। देश की स्वतंत्रता बच गई। महाराज के सब बेटे सुरक्षित हैं, तथा एक बड़े दरबार में महाराज बाजीराव पेशवा को धन्यवाद देंगे। एक सप्ताह बाद दरबार होगा।

मदन बड़ी अनमनी थी। "कौन था वह युवक ? पूछा भी नहीं, देखने में ही लगी रही। अब कैसे मिलेगा दर्शन ?" बेचैन हो घोड़े पर वह खजुराहो के महान् मंदिरों में महादेव और पार्वती की पूजा करने और वर माँगने गई। भक्ति-विभोर हो शंकर के सामने गा रही थी कि वही युवक दर्शनार्थ आया, और भक्ति-प्रणत हो नमस्कार कर ही रहा था कि कक्ष से उठती स्वर-लहरी ने उसे मुग्ध कर दिया। गीत समाप्त होने पर धीरे-धीरे गायिका बाहर आई। एक दूसरे को देख दोनो ही प्रसन्न हुए। मदन तो मानो अपनी प्रार्थना को सद्यः सफल देख सब कुछ भूल गई।

"दरबार में आज मदन भी गाएगी", महाराज की आज्ञा

हुई है। दूर-दूर के संगीतज्ञ आए थे। प्रेम-दीवानी मदन ने भगवान् शंकर के चरणों में प्रणाम करके अलभ्य देवता के चरणों में जीवन उत्सर्ग करने का एक भक्ति-प्रेममय गीत रचा था, जिसका अभ्यास रहमान दादा की कुशल कला ने उसे कराया था। वही गीत आज वह दरबार में गाएगी। सादे वस्त्रों में, भक्त-वेश में, वह मीरा-सी दीख रही थी। प्रेम-दीवानी मस्तानी मीरा, एक अनाघ्रात पुष्प, जो देवता के चरणों पर आत्मोत्सर्ग के लिये आतुर है, जो भरी मस्त जवानी, अपनी सुगंध और सौंदर्य से अपने देवता के मंदिर को सुवासित और आलोकित करके कुम्हला जाने में ही अपने नन्हे-से जीवन की सार्थकता समझता है।

कई गायकों के बाद, अंत में, मदन की बारी आई। कक्ष की ओट से महाराज के पास बैठे हुए व्यक्ति को वह देख न पाई थी। उसकी पीठ उस ओर थी। सिंहासन के सामने आते ही महाराष्ट्रीय वेश में अपने परिचित उस सैनिक युवक को देख मदन चिंतित हो उठी। "महान् बाजीराव, महाराष्ट्र का भाग्य-विधाता, भारत का नेता ही क्या उसका चहेता है? किस मुँह से वह चाहेगी उसे? उच्च-कुल का ब्राह्मण युवक उसका स्पर्श भी न करेगा।" निराशा से भर गई वह, और भारी हृदय से उसने अपने आपको शंकर के चरणों में उत्सर्ग करने का वह भक्ति-प्रेममय गीत गाना प्रारंभ किया। सारा हृदय मानो वह अपने उस अप्राप्य देवता के चरणों पर निछावर कर रही हो। वियोग-शृंगार के उस गीत से बाजीराव बेतरह विचलित

हो उठा। प्रेम और कर्तव्य का तूफ़ान उसके हृदय में द्वंद्व मचा रहा था। "गायिका से विवाह करके क्या वह महाराष्ट्र में एक विषम विभ्राट् उत्पन्न कर सकेगा ? क्या राजनीतिज्ञ बाजीराव धार्मिक क्षेत्र में भी भारत का नेतृत्व कर सकेगा ? क्या अज्ञात-कुल विवाह की प्रथा का वह सूत्रपात कर सकेगा ? क्या समाज-विरोध का वह सामना करके महान् शिवाजी के आदर्श-मार्ग पर चल सकेगा ? नेताजी पालकर की मुसलमान बहन और उसके यवन-पति रुस्तमजमाखाँ को फिर से गंगा और बजाजी निंबालकर बनाकर अपना बहन-बहनोई मानकर उन्हें महा-राष्ट्र का मान्य घोषित करनेवाले छत्रपति शिवाजी की-सी क्षमता और साहस उसमें है, जो इस बुंदेलखंड की अज्ञात कुल-शीला संभवतः मुसलमान गायिका की ओर वह आकर्षित हो रहा है ?"

सैकड़ों युद्धों के विजेता, रणवीर बाजीराव ने हृदय में उठते द्वंद्व को जीतकर निश्चय कर लिया—"वह इस तेजस्विनी नारी का वरण करेगा। उसके बिना अब उसका जीवन सूना रहेगा। वह उसके भविष्य की साथिन और उसके जीवन की अविलग संगिनी रहेगी। दोनों ही एक साथ जिएँगे—मरेंगे।" उसे ऐसा लगा, मानो इस नारी के बिना अब वह एक क्षण भी न रह सकेगा। जैसे वह उसके लिये ही पैदा हुई हो, और उसके जीवन का जीवन हो।

विचारों के इस ऊहापोह में बाजीराव खोया हुआ था कि महाराज छत्रसाल की गुरु-गंभीर गिरा गूँज उठी, निस्तब्ध दर-

बार ने सुना कि उन्होंने महान् बुंदेलखंड की विजय के उपलक्ष में अपने विस्तृत राज्य को अपने पुत्रों में बाँटकर उसके शासन को दृढ़ और व्यवस्थित करने का निश्चय किया है। कालपी, झाँसी, सागर, हटा, गुना, गढ़ाकोटा और हरदीनगर के इलाक़े अपने दत्तक पुत्र बाजीराव को देकर शेष राज्य अपने औरस पुत्रों को बाँट दिया है। आज से बाजीराव उनके सबसे बड़े बेटे हो गए हैं।

प्रजा ने महाराज की इस घोषणा का तुमुल हर्ष-ध्वनि के साथ स्वागत किया, पर बाजीराव को इस उल्लास के बीच खड़ा होते देख दरबार निस्तब्ध हो गया। बाजीराव ने कहा—"महाराज, आपके इस सौजन्य और उदारता से मैं बेहद उपकृत हुआ हूँ, किंतु आततायी से देश की रक्षा करना तो छत्रपति शिवाजी के सिपाही का कर्तव्य ही है, इसलिये तदर्थ आपके राज्य का भाग स्वीकार करना मुझे उचित नहीं लगता। हाँ, आप-जैसे स्वातंत्र्य-प्रिय, स्वदेशाभिमानी, महान् वीर नेता का बेटा बनकर मैं अपने को सौभाग्यशाली अवश्य समझता हूँ।"

महाराज की कृतज्ञता फिर भी न मानी। वह बोले—"बहादुर बेटे के लायक़ ही कहना है तुम्हारा बाजीराव भैया, पर मुझ बूढ़े की यह कृतज्ञ भेंट अगर तुमने स्वीकार न की, तो यशस्वी बुंदेलों में मेरा मुँह काला हो जायगा कि लोभी छत्रसाल ने बहादुर बाजीराव की क़दर न जानी, और वीरता का सम्मान न किया। इसलिये मेरे इस अनुरोध की रक्षा तो तुम्हें करनी ही होगी।"

बाजीराव बोले—"महाराज, आपकी आज्ञा टालने का साहस मैं कैसे कर सकता हूँ, परंतु राज्य का भाग मैं स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मैं स्वयं छत्रपति शाहूजी महाराज का सैनिक हूँ, और जो कुछ भी भूमि आप मुझे देंगे, वह उन्हीं के अर्पण होगी। हाँ, यदि और कुछ आप देंगे, तो वह सिर-आँखों पर लूँगा।"

महाराज ने गद्‌गद होकर कहा—"तुम्हारी स्वामिभक्ति भी अद्‌भुत है बाजी प्रभु, राज्य के अतिरिक्त तुम्हारे अनुरूप जंगम वस्तु भी तुम्हें भेंट करूँगा। तुम जो कुछ कहोगे, दूँगा। नाम लो।

उत्तर में बाजीराव ने मदन मस्तानी की ओर उँगली उठा दी। महाराज का मुँह तमतमा उठा। "क्या बाजीराव लंपट है, जो स्त्री पर उसका मन चल उठा?" उनके मन में उठा।

महाराज बोले—"बाजी प्रभु, बुंदेला लड़कियाँ ब्याह कर ही किसी पुरुष के साथ जाती हैं। क्या तुम मदन के साथ ब्याह कर सकोगे? तुम तो उच्च कुल के ब्राह्मण हो, और वह मुसलमान के घर पली बुंदेले क्षत्रिय और खंगार माता की पुत्री है। यदि तुम इस कन्या का उद्धार कर सको, तो मुझे बेहद खुशी होगी, लेकिन इसे तुम स्वीकार कर भी सकोगे? क्या महाराष्ट्र तुम्हें ऐसा करने देगा?"

मदन का कलेजा काँप रहा था। "क्या महान् बाजीराव उसे स्वीकार करेंगे? क्या वह तुच्छ पुष्प उनके उदार चरणों पर चढ़ सकेगा? क्या वह इतनी कृपा कर सकेंगे?"

बाजीराव ने तुरंत उत्तर दिया—"हाँ महाराज, अभी, आज ही। बाजीराव हृदय के बंधन के अतिरिक्त किसी अन्य बंधन में आस्था नहीं रखता। मैं इस कन्या को पत्नी-रूप में ग्रहण करूँगा। यह मेरी धर्मपत्नी होगी, जीवन-मरण के लिये, दुःख-सुख के लिये और स्वर्ग-अपवर्ग के लिये भी।"

उसी दिन मदन मस्तानी और बाजीराव परिणय-सूत्र में बँध गए। राजपुरोहित ने विवाह कराया। स्वयं महाराज की उपस्थिति में रहमान उस्ताद ने कन्या-दान किया, और उस दिन बुंदेलखंड ने तत्कालीन हिंदू-समाज के प्रथम अंतर्जातीय विवाह का सूत्रपात किया।

मस्तानी के कुल-शील की कथा बाजीराव से पहले ही सतारा पहुँच गई। अपवाद की दुनिया ने वहाँ खमचख मचा दी। बाजीराव की ब्राह्मण-पत्नी काशीबाई—जो बाल्यकाल में ही ब्याह कर लाई गई थी, और अब वह दो लड़कों की मा थी—बड़ी कर्कशा और कलह-प्रिय औरत थी। जीभ पैनी करके वह बाजीराव के आने की प्रतीक्षा में लग गई। मूसल, बेलन, गरम चिमटे आदि अनेक गार्हस्थ्य अस्त्रों को वह प्रतिदिन सहेज-सँभाल-कर नई सौत का स्वागत करने के लिये रखती। अहंकारी शास्त्री ब्राह्मण और पेशवा के दरबारी शत्रु भी विविध मंत्रणाओं द्वारा बाजीराव के सामाजिक तथा राजनीतिक बहिष्कार के षड्यंत्र रचकर छत्रपति शाहू के कान भरते। पर महाराज छत्र-पति ने दुनिया देखी थी। वह अडिग और अचल थे। बाजी-राव-जैसे महान् सेनानायक और राष्ट्र-नायक के कार्यों को

महत्ता को वह समझते थे। उन्होंने इस सामाजिक विभ्राट् का नेता होना तो दूर, श्रोता तक बनने से इंकार कर दिया; परंतु समाज के स्वयंभू नेता ब्राह्मण न माने। प्रेम-विवाह उनकी दृष्टि में भयानक अपराध था। मुसलमान के घर पली हिंदू-कन्या उनके लिये अस्पृश्य थी, उसके साथ उच्च कुल के ब्राह्मण का विवाह भयानक सामाजिक अपराध था—एकदम अक्षम्य, अविमार्जनीय। उसका एक ही दंड था—सामाजिक बहिष्कार। काशीबाई की जीभ घर में चलती, पंडितों की घर के बाहर। सतारा ही नहीं, समस्त महाराष्ट्र में मस्तानी-बाजीराव का प्रसंग सामाजिक विभ्राट् बनकर छा गया।

बाजीराव ने इस लोकापवाद की ओर जरा भी ध्यान न दिया। वह उत्तर-भारत की विजय और महाराष्ट्र के उस प्रकांड विस्तार में, जिसने मुग़ल-साम्राज्य की क़ब्र खोदकर उसे दफ़ना दिया, लगे हुए थे, जब कि उनके साथी क्षुद्र-मति, संकीर्ण-बुद्धि पंडित महान् शिवाजी की सीख को भुलाकर उस महान् मुग़ल-कुल-विध्वंसकारी को मुसलमान सिद्ध करने में अपनी समस्त विद्वत्ता का दुरुपयोग कर रहे थे।

इसी समय—जब बाजीराव मुग़ल-साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ स्तंभ निज़ामुल्मुल्क के बड़े लड़के नासिरजंग को परास्त करने में लगे हुए थे—उनके छोटे पुत्र रघुनाथराव का यज्ञोपवीत और उनके भतीजे सदाशिवराव भाऊ का विवाह-संस्कार आ पहुँचा। पंडितों ने संस्कार में सम्मिलित होना इस शर्त पर स्वीकार किया कि बाजीराव उसमें सम्मिलित न हों। बाजी-

राव तो युद्ध में व्यस्त थे, और उन्हें इस क्षुद्रता पर ध्यान देने का समय ही न था। मदन सदा युद्ध में उनके साथ रहती और रकाब से रकाब सटाए सदा उनकी सच्ची सहधर्मिणी की तरह घमासान रण में भी उनका साथ न छोड़ती। तलवार, भाला, बंदूक और तीर-कमान चलाने में वह अद्वितीय थी, तथा उसकी रण-चातुरी से बाजीराव को सदा नया जोश मिलता। वह उनकी आत्मा और प्राण थी। उसी के बढ़ावे से वह युद्ध में निश्शंक विजय प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते जाते थे। वास्तव में बाजीराव और मस्तानी एक प्राण, दो शरीर थे।

बाजीराव इन गृहस्थी के पचड़ों में नहीं पड़े। संस्कारों में वह सम्मिलित ही नहीं हुए। उनका स्थान लेने को स्वयं छत्र-पति महाराज शाहजी सतारा से पूना आए, और संस्कारों के अधिष्ठाता बने। समाज के ठेकेदार बाजीराव की इस लापरवाही को सह न सके। उन्होंने बाजीराव के १४ वर्षीय पुत्र नाना साहब और उनकी पत्नी काशीबाई को भड़काकर मस्तानी को क़ैद करने का षड्यंत्र रचा। मालवा से जब मस्तानी पूना लौटी, तो उसे नाना साहब और बाजीराव के छोटे भाई चिम-नाजी आपा ने क़ैद कर लिया। पंडितों ने उसकी हत्या कराने का भी निश्चय कर लिया, किंतु शाहू महाराज को जब इसकी ख़बर लगी, तो उन्होंने कठोरता-पूर्वक ऐसे प्रयत्नों का विरोध किया।

बाजीराव ने जब मस्तानी के क़ैद होने का समाचार सुना, तो उनका दिल टूट गया। परिवार के लोगों से वह झगड़ा नहीं

करना चाहते थे, इसलिये वह उसी दिन से बेहद शराब पीकर अपना ग़म ग़लत करने लगे। परिणाम यह हुआ कि पूर्ण यौवन में ही उनका शरीर अशक्त हो चला, और एक दिन नर्मदा-तट पर जब वह रावेरखेड़ी ग्राम में पहुँचे, तो जीवन में पहली तथा अंतिम बार बीमार हुए। ज़ोर का ज्वर उन्हें चढ़ा, और अगले दिन वह बेहोश हो गए। बीमारी की हालत में मस्तानी का नाम ही उनके मुँह पर था, परंतु कठोर काशीबाई ने मस्तानी को उनके पास आने देने की आज्ञा नहीं दी। इसी हालत में नर्मदा-तट पर महान् बाजीराव का प्राणांत हो गया।

पूना के बंदी-गृह में मस्तानी ने जैसे ही सुना कि उसके प्राण-वल्लभ ने उसका नाम ले-लेकर प्राण दे दिया, तो वह एक-दम कटे वृक्ष की तरह निष्प्राण होकर गिर पड़ी। हृदय की गति एकदम बंद हो जाने से उसका प्राणांत हो गया!

इस प्रकार दो एकांत-प्रेमियों ने समाज के निष्प्राण बंधनों और संकीर्ण विचारों की वेदी पर अपने प्राणों की बलि दे दी।

बाजीराव यदि जीवित रहते, तो आज भारत का नक्शा ही दूसरा होता, परंतु पोंगा पंडितों के ढोंग ने देश को पीछे ढकेलने का ठेका ले रक्खा है, वे शताब्दियों से हमारे इतिहास के पृष्ठों को अपने काले कारनामों से इसी तरह रँगते चले आए हैं।

मस्तानी और बाजीराव का वीर पुत्र शमशेरबहादुर जीवन-भर मराठा शाही का परमभक्त सेनानी रहा, परंतु मराठा-समाज ने उसे कभी भी स्वीकार नहीं किया। उसका लड़का

अलिभद्र भी बड़ा बहादुर सिपाही था, और उसने बुंदेलखंड और मालवा में मराठा सेनाओं का नेतृत्व किया। अनेक प्रदेश जीत-जीतकर इन दोनो बाप-बेटों ने महाराष्ट्र में सम्मिलित किए, परंतु कृतघ्न हिंदू-समाज ने उन्हें समाज से बाहर ही रक्खा। अंत में अलिभद्र क़लमा पढ़कर अलीबहादुर बना, और फिर बाँदा का नवाब हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध में बाँदा के नवाब-वंश ने महारानी लक्ष्मीबाई का साथ दिया। इस प्रकार फिर एक बार मस्तानी और बाजीराव का वीर रक्त देश के काम आया, परंतु हिंदू-समाज ने उसका मूल्य नहीं आँका। बाँदा का अंतिम नवाब नवाब बने झाँसी के एक ऐडवोकेट का ग़रीब मुंशी बना रहकर आज से कुछ वर्ष पहले अपने देशवासियों को दुआ देता हुआ स्वर्ग सिधारा।

यह है हमारे समाज की एक और कलंक-कथा।

पानीपत में लुटिया डूबी

१७६१ का पानीपत का युद्ध पंडितों और अब्दाली का ही न होकर आर्य और पाश्चात्य संस्कृति का था। लाखों बरस पुरानी होने के कारण आर्य-संस्कृति अपना स्वरूप भूल इतनी विकृत और विश्रृंखलित हो गई थी कि वह पश्चिम की नवजाग्रत् मुस्लिम-धारा के एकत्व-पूर्ण और मदांध बवंडर के सामने न टिक सकी। उसने मानवता के प्रधान अंगों---समत्व और सहयोग---को भुला दिया था। आर्य-संस्कृति जहाँ 'सह ना ववतु सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै, समान मस्तु वो मनः सहनो विद्विषावहि' के मंत्रों द्वारा परस्पर सहयोग-पूर्वक एक दूसरे की रक्षा करने, एक पंक्ति में और एक ही साथ बैठ भोजन करने, एक लक्ष्य हो पराक्रम करने, एकमत हो कार्य करने और देश के शत्रु का मिलकर पराभव करने की शिक्षा देती है, वहाँ उस काल के नेता जाति-पाँति के, ऊँच-नीच के, छुआछूत के, परस्पर कलह के और विभीषण बनकर विदेशियों को अपने देश के विरुद्ध आमंत्रित करने के इतने आदी हो गए थे कि उनकी इस असंगठित दशा में कोई भी उन्हें आसानी से परास्त कर सकता था।

मराठे---जिन्हें अजेय शिवाजी और बाजीराव-जैसे कर्मठ तथा अग्रदर्शी नेताओं ने नई दिशा देकर जातीयता, प्रादेशिकता

तथा छुआछूत और चौके की संकीर्ण दीवारों को तोड़ राष्ट्रीयता के विशाल प्रांगण में ला खड़ा किया था—विदेशी चितपावन ब्राह्मणों के नेतृत्व तथा देशस्थ ब्राह्मणों की पारस्परिक ईर्ष्या के कारण फिर उसी अंधकूप मंडूकता के शिकार बन गए थे। बाजीराव का पुत्र नाना साहब, जो पिता की मृत्यु के बाद बालाजी बाजीराव नाम से पेशवा बना, अपने बाल्यकाल से ही इस प्रकार के अंधे विचारों का शिकार था। स्वयं अपने पिता के विरुद्ध वह सामाजिक विभ्राट् का नेता बनकर खड़ा हुआ था, और मस्तानी को क़ैद करनेवाले ब्राह्मण-गुट्ट का अगुआ बनकर उसने महावीर बाजीराव की अकाल मृत्यु उपस्थित कर दी थी। इस षड्यंत्र में चिमनाजी आपा, उसका रोगी चाचा भी सम्मिलित था। कुछ दिन बाद अभिमानी चचेरा भाई सदाशिव भाऊ, जो अपने को बाजीराव से कम न समझता था, इसी आत्माभिमानी पंडित-गुट्ट में सम्मिलित हो गया। ये लोग ब्राह्मणेतर और मराठेतर पुरुषों को अपने से नीचा और अयोग्य समझते थे। चौके-चूल्हे के पूजक इन पंडितों ने शिवाजी की राष्ट्रीयता के विशाल दृष्टिकोण को भुलाकर संकीर्ण मराठाशाही का वह भयावह दृष्टिकोण अपनाया, जो न केवल पानीपत की पराजय में ही परिणत हुआ, अपितु आज भी अकर्मण्य पंडितों के हाथ में पड़कर संयुक्त महाराष्ट्र-जैसी समस्याओं द्वारा देश की राजनीति को विषम परिस्थितियों में घसीटे ले जा रहा है।

पंडित सदाशिव भाऊ पानीपत के मोर्चे के नेता बनकर जब उत्तर-भारत में आए, तो उन्हें परिस्थिति की भयानकता का ठीक

पता चला। उन्होंने देखा, छत्रपति शिवाजी की राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से प्रभावित हो जिन राजपूतों ने उनकी नवजाग्रत राष्ट्र-भावना को प्रश्रय और प्रगति दी, और प्रच्छन्न रूप से मुग़लों के दाक्षिणात्य पराभव की गति को सत्वर बनाया, वे ही जयपुर और उदयपुर तथा मारवाड़ के राजपूत मल्हारराव होल्कर तथा जयअप्पा सिंधिया की स्वार्थ-पूर्ण लुब्ध महत्त्वाकांक्षाओं और पेशवा के छोटे भाई उस अनुभव-शून्य तथा ज़िद्दी छोकरे रघुनाथ राव के नासमझ व्यवहार के कारण मराठाशाही को चिमटे की नोक से भी स्पर्श करने को तैयार नहीं। छत्रपति शिवाजी के बाद छत्रपति शाहू की मैत्री और सौजन्यपूर्ण व्यवहार तथा दुर्दांत बाजीराव के अतुल पराक्रम और सौहार्द ने जहाँ उन्हें मराठाशाही का मित्र बनाए रक्खा था, वहाँ वे बालाजी बाजीराव के लोभी सरदारों के ख़ून के प्यासे भी हो रहे थे। नए महाराष्ट्र की उत्तर-भारतीय सफलताओं ने इन युवक सरदारों को शक्ति-मद से अंधा बना दिया था, और वे किसी भी अन्य जातीय वीर का अपमान करने में नहीं हिचकते थे। नागौर में जयअप्पा सिंधिया की निर्मम हत्या इसी मदमत्त दुर्व्यवहार के कारण विजयसिंह ने हाल में ही कर दी थी, और होल्कर के लोभी पिंडारों ने गाज़ीउद्दीन के इशारे से मुग़लबादशाह की बेगमों को रास्ते में लूटा, और उनके पाजामे तक उतारकर नंगा किया था। इस निर्लज्ज व्यवहार के लिये उत्तरभारत ने मराठों को आज तक क्षमा नहीं किया, यद्यपि मल्हारराव होल्कर ने मलिका ज़मानी के सामने साष्टांग लेटकर क्षमा-

याचना कर मराठों की कलंक-कालिमा धोने का नाटक रचा था। तीसरी घटना भरतपुर के साथ होल्कर द्वारा की गई बद-तमीज़ी थी, जिसने जाटों को मरहठों के प्रति सशंक बनाया था। होल्कर और सिंधिया दोनो ही आगरा और मथुरा के इलाक़े अपने लिये हथियाना चाहते थे। ग़ाज़ीउद्दीन होल्कर द्वारा जाटों की उदीयमान शक्ति को दबाना चाहता था। उसका इशारा पा होल्कर ने रघुनाथराव के नेतृत्व में, सन् १७५४ के प्रारंभ में, राजा सूरजमल जाट के कुंभेरगढ़ पर आक्रमण कर दिया। जाटों ने अपने योग्य मंत्री पंडित रूपराम कोठारी को भेजकर हिंदुओं का पारस्परिक विग्रह रोकने की चेष्टा की, और मिल-कर अब्दाली के आक्रमणों को रोकने, ग़ाज़ीउद्दीन की दुष्टता का दमन करने और संगठित होने की सलाह भी दी। सूरजमल ने ४० लाख रुपया देकर मराठों से संधि भी करनी चाही, परंतु मदमत्त, अनुभव-शून्य रघुनाथराव ने सभी प्रस्ताव ठुकरा दिए, और एक करोड़ रुपए माँगे। परिणामत: कुंभेरगढ़ पर घेरा डाल दिया गया, और चार महीने तक मराठे उसे व्यर्थ ही घेरे रहे, पर उसका बाल बाँका न कर सके। अंत में मल्हारराव होल्कर का वीर पुत्र और प्रसिद्ध महारानी अहल्या बाई का पति खांडेराव होल्कर सूरजमल की गोली का शिकार हुआ, और मराठे अपने आक्रमण की विफलता अच्छी तरह समझ गए। जयअप्पा सिंधिया की सलाह मानकर रघुनाथराव ने जाटों से संधि कर ली। परिणामत: मराठे और जाट एक दूसरे से सशंक थे—जब अब्दाली ने सन् १७६० में अंतिम बार भारत पर

भयानक तैयारी और ५० हज़ार पठानों के साथ आक्रमण किया। उत्तर-भारत के पठान कभी भी मुग़लों के मित्र नहीं रहे। वे सदा ही मुग़ल-बादशाहत को उखाड़कर पठान-सल्तनत स्थापित करने के प्रयत्न किया करते थे। इसीलिये मुरादाबादी रुहेलों और फ़र्रुख़ाबादी बंगशों ने अब्दाली को निमंत्रण देकर बुलाया था, क्योंकि वह भी पठान था।

बहादुर सदाशिव भाऊ के सामने देश का यह मानचित्र था, जब वह धावे मारता हुआ उत्तर भारत पहुँचा। मुस्लिम जातीयता और सांप्रदायिकता उतनी ही कलह-जनक और विग्रह-कारिणी थी, जितनी हिंदू सांप्रदायिकता, जातीयता और प्रांतीयता। राष्ट्र में कहीं भी सहयोग, एकता और राष्ट्रीयता की भावना न थी। देश-भक्ति का कहीं पता न था। सब राजे-महाराजे स्वार्थांध, लोभी और परस्पर विद्वेषी थे। कहीं से भी भाऊ को सच्चे सहयोग की आशा न थी।

फिर भी भाऊ ने एक बार प्रयास करना उचित समझा। ग्वालियर से आगरा जाते हुए वह धौलपुर के निकट भरतपुर के जाट राजा सूरजमल से मिले। दोनो ने देश के इस विकट शत्रु के विरुद्ध परस्पर सहायता की प्रतिज्ञा की। सूरजमल मराठों की लूट-खसोट देख चुके थे, इसलिये भाऊ से उन्होंने प्रतिज्ञा ले ली कि मराठा-सैनिक उनके राज्य को न तो उजाड़ेंगे ही, न उनसे कोई ख़िराज या चौथ वसूल की जायगी। भाऊ के आश्वासन पर ३० हज़ार सेना लेकर वह मराठों के साथ दिल्ली की ओर बढ़ गए, जहाँ अब्दाली की ओर से याक़ूबअलीख़ाँ शासन

कर रहा था। जाटों और मराठों की सेना ने २ अगस्त, १९६० को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अपने राज्य के सान्निध्य तथा होल्कर द्वारा जाटों के हाथ से पहले दिल्ली छीनी जाने के कारण सूरजमल ने दिल्ली का तात्कालिक शासन जाटों के हाथ में देने की माँग की, तो मराठे-सरदारों और स्वयं भाऊ ने जाटों की जातीयता के प्रति अपमान-जनक शब्दों का प्रयोग किया, और उनकी शूद्रता के कारण उन्हें शासन के अयोग्य बता किसी प्रकार का भी नेतृत्व सूरजमल के हाथ में देने से इंकार कर दिया। भाऊ तथा उनके साथी मराठों की इस शेखी और अहंकार ने जाटों का दिल तोड़ दिया। और, वे ३०,००० बहादुर, जिनके डर से पहले अब्दाली उन पर आक्रमण न कर सका था, सूरजमल के बहुत कहने-सुनने पर भी मराठों का साथ देने को राजी न हुए। भरतपुर की जाट-सेना मराठों की अदूरदर्शिता और उनके जातीय अहंकार से चिढ़कर भरतपुर लौट आई। उधर पंजाब के जाटों ने, जिनमें से अधिकांश सिख-मत में दीक्षित होकर, जस्सासिंह अहलूवालिया (कपूरथला), आलासिंह (पटियाला) और जस्सासिंह रामगढ़िया के नेतृत्व में, नए सिख-राज्यों की नींव डाल चुके थे, जब भरतपुर के जाटों के प्रति मराठों का ऐसा मदमत्त व्यवहार देखा, तो चौकन्ने हो उठे। अवध का नवाब शुजाउद्दौला भी मराठों की चौथ और लूट-खसोट से उनके प्रति आश्वस्त न था, इसलिये सदाशिव भाऊ की विशाल वाहिनी केवल अपने ही बाहु-बल पर पानीपत के मैदान में लड़ने पहुँची। इतनी बड़ी सेना को परदेस

में रसद तभी मिल सकती है, जब आस-पास के प्रदेश उनके प्रति विद्वेष न रखते हों। भाऊ और उससे पहले रघुनाथराव के व्यवहार ने उत्तर-भारत के राज्यों की भावनाएँ अपने विरुद्ध बना ली थीं। परिणाम यह हुआ, कई महीने तक भाऊ को बिना रसद और रुपए के पानीपत के पिंजड़े में चूहे की तरह भूखे बंद रहकर अंत में अब्दाली की सेना से बुरी तरह हारना पड़ा। २० हजार से ऊपर मराठे इस युद्ध में मारे गए। मराठों के अच्छे-से-अच्छे सेनानायक उसमें काम आए। महाराष्ट्र का कोई घर ऐसा न बचा, जिसका कोई-न-कोई पुत्र इस युद्ध में बलिदान न हुआ हो।

जातीयता, प्रादेशिकता और ऊँच-नीच के विचार राष्ट्रों की नींव कैसे खोखली बना देते हैं, यह पानीपत की भयानक पराजय ने स्पष्ट कर दिया। राष्ट्रीय खाँड़े की तेज धार इन अराष्ट्रीय तत्त्वों के कारण कुंठित और अकर्मण्य बनकर रह गई।

*

जिसने देश को शताब्दियों तक गुलाम बनाए रक्खा।

विभीषण की संतान

परदेशी विभीषण को लंका जीतने के लिये मुँह लगाकर आर्य राष्ट्र-नायक श्रीराम ने जो पाप किया, वह सदियों तक हमारे देश के आड़े आया। देश के ऊपर परदेशी को चढ़ा लाना और उसकी सहायता से अपने स्वदेशी शत्रु का नाश कराकर परदेसियों के हाथ देश की स्वतंत्रता बेच देना अनार्य कृत्य है। हमारे शास्त्रों में इस प्रकार के पाप का प्रायश्चित्त चावल की भूसी की चिता में तिल-तिल जलकर मरना ही लिखा है। अनेक बार हमारे देश के वीर नेताओं ने, जिनसे भूल में भी ऐसा पाप हुआ, ऐसा प्रायश्चित्त कर आर्य-मर्यादा की रक्षा की है। महाराज जयपाल, आचार्य कुमारिल भट्ट, महाराज बंग तथा अनेक अन्य नाम ऐसे ही वीरों के लिए जा सकते हैं।

राक्षस-वंशी विभीषण, जो अनार्य-सभ्यता की शिश्नोदर-प्रवृत्तिवाली संस्कृति के प्रवर्तक रावण का छोटा भाई था, और आर्य-संस्कृति तथा सभ्यता के विरोधी देश लंका का निवासी था, उपर्युक्त अनार्य कृत्य का प्रथम ऐतिहासिक प्रवर्तक था। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के जघन्य कृत्य फिर उसके बाद बहुत दिन तक नहीं हुए। द्वापर के अंतिम चरण में एक बार फिर

आसुरी संस्कृति के अनुयायी कंस, जरासंध, शिशुपाल, कालिय-नाग, बकासुर, धेनुकासुर आदि व्यक्तियों ने सिर उठाया, और आर्य-नेता श्रीकृष्ण ने समस्त आर्य-शक्तियों का संगठन करके इन लोगों का दमन किया। कंस और जरासंध ने फिर देश-द्रोह करके कालयवन-नामक विदेशी शासक को श्रीकृष्ण के विनाश हेतु-आफ्रिका से निमंत्रित किया। श्रीकृष्ण ने अपने रण-कौशल से उसे परास्त करके ऐसे सामुद्रिक आक्रमणों से भविष्य में देश की रक्षा करने के लिये वर्तमान युग के सिंगापुर की तरह 'द्वारिका'-नामक सामुद्रिक द्वार का सामरिक संगठन और स्थापन किया। त्रेता के विभीषणों—कंस, जरासंध और शिशु-पाल—का समूल नाश भी उन्होंने करा दिया।

परंतु यह अनार्यवृत्ति देश से प्रणष्ट नहीं हुई। शताब्दियों के बाद—बहुत बाद—जब विदेशियों की विजयवाहिनी लेकर मेसिडोनिया का राजा अलेक्जेंडर हमारे देश पर चढ़ आया, तो उसका साथ देकर अटक की अटकनेवाली सीमा पार करने का रहस्य बतानेवाला देश-द्रोही विभीषण अंब का राजा 'अंभि' ही था। वह महाराज पुरु से अपनी शत्रुता निभाने के लिये उत्तरी पंजाब के हरे-भरे मैदानों पर ग्रीकों को चढ़ा लाया। इसके बाद ग्रीक-सेनापति और गवर्नर सेल्युकस निकेटोर के शासन को देश के उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर स्थिर रखनेवाला दूसरा विश्वासघाती भारतीय शशिगुप्त था, जिसने सिंधु-घाटी का गवर्नर बनकर ग्रीक-सत्ता को जमने का अवसर दिया। फिर ईसा की १२वीं शताब्दि में पृथ्वीराज चौहान के मूर्ख

दरबारी कैमारा ने मूलराज सोलंकी की मुछों के ताव पर ताव खाकर उसका सिर काट लिया, और कन्नौज-राज जयचंद की पुत्री संयोगिता का पृथ्वीराज ने अपहरण कर लिया तथा सर्वत्र चौहानों के पराक्रम ने भारत के चक्रवर्ती आधिपत्य का डंका बजा दिया। तब ईर्ष्या और द्वेष की बीन से देश-द्रोह का नाग फिर एक बार लहरा उठा, और विभीषण की संतान इस आर्य देश में दिखाई पड़ी। अनहिलवाड़े के सोलंकियों और कन्नौज के जयचंद के दूत शहाबुद्दीन मुहम्मदग़ोरी की सेवा में ख़ैबर के उस पार जा पहुँचे। विभीषण की परंपरा का अनुकरण करके इन दोनों स्वार्थांध राजाओं ने देश को परदेसियों के हाथ बेच दिया। पृथ्वीराज, जो अपने काल का अजेय योद्धा और देश का सिर-मौर था, बुरी तरह हारा, और उत्तर-भारत में पहलेपहल विदेशियों का शासन जमा।

आर्य-नेता श्रीराम की तरह ग़ोरी ने इन विभीषणों को लंका का शासन नहीं सौंपा। ग़ोरी अनार्य था, उसमें श्रीराम की-सी आर्योचित उदारता न थी। सोलंकियों को समाप्त करके उसने देश-द्रोही जयचंद की जड़ ही मिटा दी। और, तब से विभीषण का उत्तराधिकार जयचंद को मिला। विभीषण भारतीय न था, इसलिये देशवासियों ने ऐसे अनार्य कृत्य के कर्ता, पापी आर्य जयचंद को भारतीय विभीषण की पदवी दी। 'जयचंद' आज हमारे देश की भाषा में विश्वास-घाती और देश-द्रोही का पार्यायवाची शब्द बन गया है।

जयचंदों की परंपरा इसके बाद द्रुत गति से बढ़ी। १२वीं

शताब्दि के बाद तो धृतराष्ट्र की संतति के समान उसकी सैकड़ों शाखाएँ और प्ररोह इतिहास के पृष्ठों को कलंकित करते रहे।

पठान सुल्तानों के पिछलगुए सरदार इस देश-द्रोही जयचंद के उत्तराधिकारी बने। बाबर को इब्राहीम लोधी के विरुद्ध भारत पर चढ़ा लानेवाले दिल्ली-सल्तनत के पठान सरदार ही थे।

फिर बाबर की निश्चित पराजय को खानुआ के मैदान में अचानक विजय में परिणत कराकर भारत को मुग़लों के हाथ सौंपनेवाला जयचंद भारतीय ही था।

शेरशाह ने हुमायूँ को भारत से बाहर भगाकर जब फिर अफ़ग़ान-सत्ता भारत में स्थापित की, तब एक और देश-द्रोही मुस्लिम फ़क़ीर शाहदोस्त पैदा हुए, जिन्होंने अपने एक षड्यंत्र-कारी चेले को एक जूता और चाबुक लेकर हुमायूँ के पास न्योता देने भेजा। इस न्योते का परिणाम यह हुआ कि देश पर सौ वर्ष के लिये मुग़ल-सत्ता का आधिपत्य जम गया।

मुग़लों की सत्ता को उखाड़ने के लिये पठान जयचंदों—नजीबुल्लाख़ाँ और मुहम्मदशाह बंगश—ने अहमदशाह अब्दाली को अफ़ग़ानिस्तान से बुला मुग़ल-बादशाहत की हिलती नींव को ठोकर लगवाकर गिरवा दिया, और देश की भयंकर बरबादी कराई।

फिर जयचंद की औलाद ने अँगरेज़ों के हाथ देश बेचा। अवध का नवाब शुजाउद्दौला बक्सर में और अरकाट का नवाब [illegible]

साहब, हैदराबाद का निजामुल्मुल्क और बंगाल का मीर जाफ़र जयचंद के सच्चे बेटे सिद्ध हुए। इन लोगों ने अपनी आत्मा को बेचकर बंगाल, उत्तरी भारत, दक्षिण भारत के पूर्वीय और पश्चिमीय तटों पर अँगरेजों का अधिकार करा दिया। प्लासी के मैदान में नमकहराम मीर जाफ़र यदि अँगरेजों से रुपए लेकर सिराजुद्दौला से दगा न करता और उसके हिंदू साथी—पंजाबी देश-द्रोही अमीचंद, बंगाली कृष्णवल्लभ और ब्राह्मण नंदकुमार—षड्यंत्र करके सिराज को धोखे में न रखते, तो क्लाइव का नामोनिशान न रहता।

वारेन हेस्टिंग्स को उत्तरी-भारत पर क़ब्ज़ा दिलानेवाला नमकहराम अवध का नवाब शुजाउद्दौला ही था। मराठों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करने में वेलेज़ली का दाहना हाथ हैदराबाद का निज़ाम और बायाँ अरकाट का नवाब चाँदा साहब थे। फिर १८५७ में तो सिख-जाति, राजपूत, गुरसराय का खेरवंश, चिरगाँव के रावसाहब, चरखारी, टीकमगढ़ और दतिया के राजा लोग सभी जयचंद के सपूत सिद्ध हुए।

किंतु विभीषणों और जयचंदों की परंपरा के कंधों पर ही भारत की निरंतर पराजयों और सफलताओं का भार नहीं रक्खा जा सकता। हमारे अंध-विश्वास, हमारी पारस्परिक कलह, हमारा असंगठन, विपद् काल में भी एकमत होकर शत्रु का सामना करने की अक्षमता, उचित नेता के चुनाव में असमर्थता, धर्मों और मत-मतांतरों की विभिन्नता के कारण परस्पर सहानुभूति का अभाव, सामरिक सज्जा की हीनता और

उचित अवसर पाकर भी उसका तात्कालिक उपयोग न करना आदि अनेकों ऐसे कारण थे, जिन्होंने इन जयचंदों के निंद्य प्रयत्नों को सफल होने का मौक़ा दिया।

सबसे अधिक सफलता इन देश-द्रोहियों को हमारे हिंदू-धर्म के उस अंध-विश्वास के कारण मिली, जिसे हम शरणागत-वत्सलता के नाम से पुकारते हैं, और जिसे राजनीतिक भाषा में डिप्लोमेसी का अभाव कहा जाता है। पंचमांगी तत्वों को हम धर्मनिरपेक्षिता और सहिष्णुता के नाम पर उस सीमा तक पनपने देते रहे, जब तक कि उन्होंने हमारे देश की नींव में बारूद की सुरंगें लगाकर उसमें पलीते न लगा दिए। रक्षा-पंक्तियाँ जब धड़ाके के साथ ऊपर उड़ गईं तब उनकी मरम्मत के लिये हम तैयार होने में ही राजपूती शान और भारतीय शौर्य की प्रतिष्ठा समझते रहे। राजनीतिक दूरदर्शिता हमारे राष्ट्र ने बहुत कम दिखाई।

अवसर से लाभ उठाकर देश का भला करने में हमने सदा ग़लती की। शत्रु की कमज़ोरी का उपयोग करने में हम सदा हिचकिचाते रहे और यह हमारी ऐतिहासिक भूल सदा रही है।

राणा साँगा ने लगातार विजय प्राप्त करने के बाद भी बारंबार दिल्ली की सल्तनत की कमज़ोरी को नहीं पहचाना। अफ़ग़ान बादशाहत उस समय गलियों में मारी-मारी फिर रही थी। यदि प्रबल प्रतापी राणा अपने घरेलू झगड़ों को छोड़कर भारत में राष्ट्रीय सरकार बना लेते, तो आज भारत का इतिहास ही दूसरा होता।

पृथ्वीराज की पराजय के बाद उत्तर-भारत के जयचंद और सोलंकी यदि संगठित होकर एक विस्तृत साम्राज्य बना लेते, तो भी भारतीय इतिहास की धारा दूसरी ही होती।

महाराणा प्रताप ने इतिहास का तीसरा अवसर उस समय खोया, जब हिंदुत्व की झूठी शान में पड़कर राजा मानसिंह के मित्रता के हाथ को बढ़ा हुआ पाकर भी उसे बुरी तरह ठुकरा दिया। काबुल-विजय के बाद जब वह बहादुर सेनापति महाराणा के शौर्य से चमत्कृत और आकर्षित होकर उनसे मिलने गया, तो सिर-दर्द का बहाना करके उससे मिलने के लिये महाराणा ने जो इंकार किया, वह एक भयंकर राजनीतिक भूल थी। यदि उस समय ये दोनो महान् वीर मानसिंह के खानदान-वालों की चूक को भूलकर संयुक्त हो जाते, तो आज हमारे देश का इतिहास और ही होता। चौथी बार महादाजी सिंधिया ने भूल की, जब मराठों के नेता होकर उन्होंने दिल्ली पर अधिकार किया और फिर भी मुग़ल-सल्तनत के टूटे तख़्त के हिलते पायों को धक्का देकर गिरने के स्थान पर स्वयं तख़्त ताऊस का पाया-मात्र बनना स्वीकार किया। उस समय यदि विस्तृत राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा जाता, तो विशाल भारतीय साम्राज्य मराठों द्वारा सहज ही स्थापित हो जाता। पर हमने व्यापक राष्ट्रीय भाव से कभी काम नहीं लिया। सदा सांप्रदायिक, एकदेशी, एकजातीय अथवा कूप-मंडूक ही हम बने रहे।

★